(सर्वाधिकार सुरक्षित) http://www.jainkosh.org

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

पञ्चाध्यायी प्रवचन

त्रयोदश, चतुर्दश व पंचदश भाग

प्रवक्ता:

अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ

पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी

"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

प्रकाशक:

खेमचन्द जैन सर्राफ,

मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश)

स्वाध्यायार्थी बन्धु, मन्दिर एवं लाइब्रेरियोंको

भारतवर्षीय वर्णी जैनसाहित्य मन्दिरकी ओरसे अर्धमूल्यमें।

प्रथम संस्करण १०००] सन् १९७५ लागत [१५) रु०

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

आत्म-कीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री शान्तमूर्ति पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह रागवितान।
मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ॥१॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥२॥

सुख दुःख दाता कोइ न आन, मोह राग दुःख की खान।
निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान ॥३॥

जिन शिव ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुंचूं निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥४॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ॥५॥

०००O०००

[धर्मप्रेमी बंधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरों पर निम्नांकित पद्धतियों में भारतमें अनेक स्थानोंपर पाठ किया जाता है। आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमें श्रोतावों द्वारा सामूहिक रूपमें।

२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरपर।

३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समय छात्रों द्वारा।

४—सूर्योदयसे एक घंटा पूर्व परिवारमें एकत्रित बालक, बालिका, महिला तथा पुरुषों द्वारा।

५—किसी भी आपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ, चौपाई या पूर्ण छंदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओं द्वारा।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पंचाध्यायी प्रवचन त्रयोदश भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

प्रकृतं तद्यथास्ति स्वं स्वरूपं चेतनात्मनः ।
सा त्रिधात्राप्युपादेया सद्दृष्टेर्ज्ञानचेतना ॥८२३॥

सम्यग्दृष्टिका प्रधान गुण ज्ञानचेतना—सम्यग्दृष्टिके अविनाभावी सहयोगी आदिक अनेक प्रकारके गुण बताये गए हैं । उन सब गुणोंको समन्वित कर सकने वाली यदि कोई संक्षेपरूपसे एक बात कही जाय तो कहना चाहिए कि सम्यग्दृष्टिके वह सब ज्ञानचेतना है । चेतना आत्माका स्वरूप है और वह चेतना ३ प्रकारकी कही गई है—(१) कर्मचेतना, (२) कर्मफलचेतना और (३) ज्ञानचेतना । कोई जीव क्रियावोंमें मैं ठीक कर रहा हूं, इस प्रकारकी क्रियावोंमें अपना सर्वस्व सौंपता हुआ चेत रहा हो तो उसे कर्मचेतना कहते हैं और कोई जीव कर्मचेतनाके फलमें इसे मैं भोग रहा हूं, इस प्रकारसे यदि कोई चेतता है तो उसे कर्मफल-चेतना कहते हैं । किन्तु सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष ज्ञानस्वरूपमें इसे ही मैं चेतता हूं, यही करता हूं, इसीको भोगता हूं, इस प्रकार ज्ञानके ही संचेतनका काम करता है उसे ज्ञानचेतना कहते हैं । इन तीनोंमें ज्ञानचेतना सम्यग्दृष्टिको उपादेय है और शेषकी दो चेतनायें त्याज्य हैं । कर्मचेतना, कर्मफलचेतना मिथ्यादृष्टिके होती हैं और ज्ञानचेतना सम्यग्दृष्टिके होती है । इस तरह उन सब गुणोंसे संक्षिप्त करके यदि कहा जाय तो एक ज्ञानचेतना सम्यग्दृष्टिका अविना-भावी गुण है ।

श्रद्धानादिगुणाश्चैते बाह्योल्लेखच्छलादिह ।
अर्थात्सद्दर्शनस्यैकं लक्षणं ज्ञानचेतना ॥८२४॥

ज्ञानचेतनामें श्रद्धानादि सर्व गुणोंका पूरकत्व—श्रद्धान आदिक जो सम्यग्दृष्टिके गुण कहे गए हैं वे सब बाह्य पदार्थका उल्लेख करके कहे गए हैं । वस्तुतः तो सम्यग्दृष्टिका एक ज्ञानचेतना ही लक्षण है । ज्ञानचेतनामें सर्वगुण गर्भित हो जाते हैं । अङ्गोंमें जो कुछ बताया गया है उनमें ज्ञानीके ज्ञानरूपसे चेतना ही चल रही है, यह बात दिखाई गयी है । इस तरह

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सम्यग्दृष्टिका कोई प्रधान गुण यदि कहा जाता है तो जैसे पहिले स्वानुभूति कहा था, इसी तरह समझना चाहिए कि यह ज्ञानचेतना है, क्योंकि ज्ञानचेतना तो सम्यग्दृष्टि जीवके निरन्तर रहती है अर्थात् अपने आपको ज्ञानरूप हूं, इस प्रकारकी प्रतीति और इसका ही कर्तृत्व भोक्तृत्व सब इसीके लिए रहता है। ज्ञानचेतना ज्ञानीके निरन्तर रहती हैं, और स्वानुभूति इस ज्ञानचेतनाका एक अनुभव वाला रूप है।

ननु रूढिरिहाप्यस्ति योगाद्वा लोकतोऽथवा।
तत्सम्यक्त्वं द्विधाप्यर्थनिश्चयाद्व्यवहारतः ॥८२५॥
व्यावहारिक सम्यक्त्वं सरागं सविकल्पकम्।
निश्चयं वीतरागं तु सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम् ॥८२६॥
इत्यस्ति वासनोन्मेषः केषाञ्चिन्मोहशालिनाम्।
तन्मते वीतरागस्य सद्दृष्टेर्ज्ञानचेतना ॥८२७॥
तैः सम्यक्त्वं द्विधा कृत्वा स्वामिभेदो द्विधा कृतः।
एकः कश्चित् सरागोस्ति वीतरागश्च कश्चन ॥८२८॥
तत्रास्ति वीतरागस्य कस्यचिज्ज्ञानचेतना।
सद्दृष्टेर्निर्विकल्पस्य नेतरस्य कदाचन ॥८२९॥
व्यावहारिकसद्दृष्टेः सविकल्पस्य रागिणः।
प्रतीतिमात्रमेवास्ति कुतः स्यात् ज्ञानचेतना ॥८३०॥

सरागसम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतना न हो सकनेकी शङ्काकारकी आशंका—अब किसी जिज्ञासुका यह मंतव्य है कि ऐसी लोकरूढ़ि है अथवा लोकदृष्टिसे बात प्रमाणित है और लोकरूढ़िसे भी प्रमाणता है कि सम्यग्दर्शन दो प्रकारका होता है—(१) निश्चयसम्यक्त्व और (२) व्यवहारसम्यक्त्व। इनमेंसे व्यवहार सम्यक्त्व तो सराग और सविकल्प है, किन्तु निश्चयसम्यग्दर्शन वीतराग तथा निर्विकल्प है। तो सम्यक्त्वमें सराग सम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व ऐसे दो भेद किए गए हैं। उनमेंसे वीतराग सम्यग्दृष्टिके तो ज्ञानचेतना होती है और सराग सम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतना नहीं होती, ऐसा किसी शङ्काकारका अभिमत है। तो इस शङ्काकारने सम्यग्दर्शनके दो भेद कर डाले। ये भेद स्वामीके भेदसे भेद हैं। उनका यह मंतव्य है कि सराग सम्यक्त्व, वीतराग सम्यक्त्व, ऐसे दो सम्यग्दर्शन होते हैं। उनमें वीतराग निर्विकल्प सम्यग्ज्ञान तो वीतराग सम्यग्दृष्टिके होता है और जिसके वीतराग निर्विकल्प सम्यग्दर्शन है ज्ञानचेतना उसीके होती है, पर जो सराग सम्यग्दृष्टि है उसके सराग सम्यक्त्व होता है, वहाँ ज्ञानचेतना नहीं हो सकती। केवल एक ज्ञानकी प्रतीतिमात्र है तो ज्ञानचेतनाके अधिकारी सभी सम्यग्दृष्टि पुरुष नहीं होते, ऐसा यहाँ इस जिज्ञासुका अभिमत है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

इति प्रज्ञापराधेन ये वदन्ति दुराशयाः ।
तेषां यावच्छ्रुताभ्यासः कायक्लेशाय केवलम् ॥८३१॥

उक्त शङ्काके समाधानका प्रारम्भ—अब उक्त शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि बुद्धि के दोषसे जिन विपरीत अभिप्राय वालोंने कहा है कि सराग सम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतना नहीं होती है उनका जितना भी शास्त्राभ्यास है वह केवल शरीरको कष्ट पहुंचानेके लिए है। वस्तुतः उनका यह आशय सही नहीं है। क्योंकि सही नहीं है, यह बात आगेके कथनमें बतावेंगे, परन्तु मूल भूल यह कर रहे हैं कि वे तो सम्यग्दृष्टिके स्वामीके भेद हैं। सम्यग्दर्शनमें तो जो कुछ हो सकता है वह सभीके समान रूपसे हुआ करता है। अब कोई सम्यग्दृष्टि रागवान है तो वह सराग सम्यग्दृष्टि कहलाता है। वहीं सराग सम्यग्दृष्टिका सम्यक्त्व नामक गुण सविकल्प न हो जायगा। सम्यक्त्व तो सभी निर्विकल्प हुआ करते हैं। सम्यक्त्वका जो स्वरूप है उस स्वरूपमें किसी भी प्रकारका विकल्प नहीं हुआ करता।

अत्रोच्यते समाधानं सामवेदेन सूरिभिः ।
उच्चैरुत्फणिते दुग्धे योज्यं जलमनाविलम् ॥८३२॥

उक्त शङ्काका शान्तिपूर्वक समाधानका उद्यम—उक्त शङ्काके समाधानका स्पष्टीकरण कर रहे हैं। पहिले आचार्य यह समाधान करनेके लिए बतला रहे हैं कि देखिये—यदि कहीं दूधमें उफान आ जाय तो उसमें स्वच्छ जल डालना ही ठीक है, इसी प्रकार खोटे अभिप्रायवश जो जिज्ञासुका यह दुराशय हुआ है वह केवल शरीरको कष्ट पहुंचानेके लिए ही है। उसमें कोई तत्त्वकी बात नहीं प्राप्त होती। तब ऐसे दुराशयसे जो प्रश्न किया गया है उसका समाधान अब शान्तिपूर्वक किया जा रहा है।

सतृणाभ्यवहारित्वं करीव कुरुते कुदृक् ।
तज्जीहीहि जहीहि त्वं कुरु प्राज्ञ विवेकिताम् ॥८३३॥

उक्त शङ्काके समाधानके लिये विवेक करनेका अनुरोध—समाधानमें कहते हैं कि जिस तरह हाथीको विवेक नहीं होता, उसके सामने हलुवा और घास रखें तो वह घासको छोड़कर हलुवाका स्वाद ले ले, ऐसा उसके सम्भव नहीं होता, वह तो तृणसहित सब खा जाता है, इसी प्रकार जो अज्ञानी जीव है वह अज्ञानमें इस प्रकार बोल रहा कि सराग सम्यग्दृष्टिके सविकल्प सम्यक्त्व होता है और वहाँ विकल्प है, ज्ञानचेतना नहीं है, इस प्रकारका कहना उसका केवल अज्ञानवश हुआ है। उस अविवेकपनेको छोड़कर विवेकसे काम लो। आत्मामें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र गुण होते हैं। जिसमें सम्यग्दर्शनका कार्य यह है कि आत्माका जो सहज स्वरूप है सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र उस सहज स्वरूपका संचेतन करना मैं यह ही हूं, जब कि मिथ्यादृष्टि जीव अपनेको मनुष्य मानता, पशु मानता,

http://sahjanandvarnishastra.org/

कुल जाति वाला मानता, परिवार जन वाला मानता है। लेकिन सम्यग्दृष्टि जीव अपनेको देहसे निराला केवल ज्ञानस्वरूप ही समझता है। तो यही विवेक है जो देहमें और जीवमें भेद करके देहको छोड़कर अपने आपके आत्माको ग्रहण करना।

वन्हेरौष्ण्यमिवात्मज्ञ पृथक्कर्त्तुं त्वमर्हसि।
मा विभ्रमस्व दृष्ट्वापि चक्षुषाऽचाक्षुषाशया ॥८३४॥

सम्यग्दृष्टिसे ज्ञानचेतनाको पृथक् किये जानेकी अशक्यता—आचार्य समाधान करते हुए कहते हैं कि जैसे अग्निको उष्णतासे अलग नहीं किया जा सकता है इस तरहसे सम्यग्दृष्टि से ज्ञानचेतना अलग नहीं की जा सकती, लेकिन शङ्काकार सम्यग्दृष्टि जीवसे ज्ञानचेतनाको अलग करके यह दिखा रहा है कि जैसे मानो वह अग्निसे गर्मीको अलग करना चाह रहा है। जैसे आगसे गर्मी कोई निकालकर अलग धर दे और आग बिना गर्मीके रहे, ऐसा नहीं होता। अग्निका स्वरूप ही गर्म रहना है। इसी प्रकार जो ज्ञानी पुरुष है उसके ज्ञानचेतना अभिन्न रूपसे है। यदि ज्ञानचेतना न रहेगी तो वह ज्ञान ही न रहेगा। तो ज्ञानचेतना ज्ञानीसे कभी पृथक् नहीं होती। जैसे कोई पुरुष आँखसे किसी पदार्थको देखता है और देख करके यह कहे कि हमको तो ऐसा पदार्थ दिख जाना चाहिए जो कि आँखसे तो नहीं दिखता, पर दिख जाय। तो इस आशासे देखने वाले पदार्थमें भ्रम मत करो। ऐसा भ्रम न करना चाहिए कि हमको यदि परमाणु नहीं दिखता है तो ये दिखने वाली चीजें भी भ्रम हैं, ये भी कुछ नहीं हैं। प्रयोजन यह है कि सम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतना सदाकाल रहा करती है। उसे पृथक् नहीं किया जा सकता।

विकल्पो योगसंक्रान्तिरर्थाऽज्ज्ञानस्य पर्ययः।
ज्ञेयाकारः स ज्ञेयार्थात् ज्ञेयार्थान्तिरसङ्गतः ॥८३५॥

ज्ञेयार्थान्तरसङ्गरूप ज्ञानविकल्पकी सम्यग्दर्शनमें असंयोज्यता—आत्मामें ज्ञान गुण है जो अन्य किसी पदार्थमें सम्भव नहीं है। ज्ञानमें उपयोग रहा करता। जैसे कोई पुरुष जानकारी तो बहुत पदार्थोंकी रखता है, मगर जो पदार्थ सामने आया हो उस पदार्थकी जानकारी में उपयोग लगाता है। जहाँ उपयोग लगा है वहाँ ही इसका सारा श्रम चल रहा है। उपयोग बदलनेको विकल्प कहते हैं। तो इस विकल्पको छोड़कर शंकाकार यह समझ रहा है कि सम्यग्दर्शनमें विकल्प होता है। अरे वह तो ज्ञानका स्वरूप है। पदार्थाकार ज्ञानस्वरूपमें ज्ञेयरूप पदार्थसे हटकर दूसरे पदार्थके आकारको धारण करता है। तो जब उपयोग एक पदार्थसे हटकर दूसरे पदार्थकी तरफ लगता है तो इसका नाम है उपयोगसंक्रान्ति। इसी उपयोगका नाम विकल्प है। इस विकल्पकी बात सम्यग्दर्शनमें न लगानी चाहिए।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

क्षायोपशमिकं तत्स्यादर्थादक्षार्थसम्भवम् ।
क्षायिकात्यक्षज्ञानस्य संक्रान्तेरप्यसंभवात् ॥८३६॥

क्षायिकज्ञानमें संक्रान्तिकी भी असंभवता—यह जो उपयोगका बदलना है, जैसे अभी इस पुस्तकको पढ़ रहे हैं, यहाँसे उपयोग हटाया और किसी लौकिक काममें उपयोग लगा दिया तो यह संक्रान्तिरूप विकल्प तो क्षायोपशमिक है और इन्द्रिय पदार्थके सम्बन्धसे होने वाला ज्ञान है ऐसा यह संक्रमण अतीन्द्रियज्ञानमें नहीं हुआ करता। अतीन्द्रियज्ञान क्षायिकज्ञान होता है। जब तक ज्ञानमें अल्पज्ञता है अर्थात् यह जीव थोड़ा जान पाता है तब तक यह सब पदार्थोंको एक साथ नहीं जान सकता। जैसे हम आप जो आँखोंके सामने हो उसे ही जान रहे हैं, पीठ पीछे की चीज नहीं जान रहे। हैं सब चीजें एक साथ, मगर हम आप अल्पज्ञ हैं तो उन सब पदार्थोंको एक साथ नहीं जान सकते, क्रम-क्रमसे जानते हैं और किसी-किसी पदार्थको जानते हैं तो हमारी जो यह अवस्था ज्ञानकी कमजोर हो रही है वह इन्द्रियके सम्बन्धसे हो रही है। इन्द्रियसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह थोड़ा होता है, और क्रम-क्रमसे होता है, पर जो ज्ञान क्षायिक है, अतीन्द्रिय है उसमें समस्त पदार्थ एक साथ प्रतिबिम्बित होते हैं। जिस ज्ञानमें विकार परिणति न हो उस ज्ञानको सविकल्पज्ञान कहते हैं।

अस्ति क्षायिकज्ञानस्य विकल्पत्वं स्वलक्षणात् ।
नार्थादर्थान्तराकारयोगसंकान्तिलक्षणात् ॥८३७॥

जाननमात्र रूप विकल्पकी ज्ञानस्वरूपता—सिद्धान्तग्रन्थोंसे लोग यह जान सकते हैं कि क्षायिकज्ञानमें भी तो विकल्पपना है, सो विकल्प दो प्रकारके कहलाते हैं—एक तो पदार्थको ज्ञानमें झलकाना। इस झलकका ही नाम विकल्प है। तो यह विकल्प तो ज्ञानका स्वरूप है उस विकल्पको सविकल्प नहीं कहते। सविकल्पमें तो एक पदार्थको जानकर दूसरे पदार्थमें में लगना यह हुआ करता है, परन्तु ज्ञान सभी पदार्थोंका प्रतिक्षण झलक बनाये रहे, यह तो ज्ञानका स्वरूप है। हाँ ज्ञान एक पदार्थको छोड़कर, बदलकर दूसरेको जानता है तो उसमें अवश्य रागकी प्रेरणा पड़ी हुई है। इस कारण वह विकल्प रागजन्य है, किन्तु ज्ञानमें होने वाला प्रतिभास मात्र विकल्प तो ज्ञानका स्वरूप है।

तल्लक्षणं स्वापूर्वार्थविशेषग्रहणात्मकम् ।
एकोऽर्थो ग्रहणं तत्स्यादाकारः सविकल्पता ॥८३८॥

स्वपूर्वार्थग्रहणकी ज्ञानलक्षणता—क्षायिक ज्ञानका लक्षण यह कहा गया है कि अपने आत्माको और अन्य अपूर्व पदार्थोंको विशेष रीतिसे ग्रहण करना सो क्षायिकज्ञान है। अर्थ मायने पदार्थका और विकल्प मायने जानना, सो पदार्थको ग्रहण करना यही आकार बन

http://sahjanandvarnishastra.org/

गया। ज्ञानका आकार क्या है ? तो जिस पदार्थको जान रहा है वही जानन ज्ञानका रूप है, ज्ञानकी मूर्ति है। तो स्व और पदार्थके ज्ञानका ज्ञेयाकार होना ही ज्ञानमें विकल्प कहलाता है। ज्ञान अपनेको भी जानता है और परपदार्थको भी जानता है, किन्तु जो ज्ञान उपयोगसे उपयोगान्तर नहीं होता उसको क्षायिकज्ञान कहते हैं। यद्यपि क्षायिकज्ञानमें भी प्रतिसमय जानन तो बना ही रहता है। भगवान जानते हैं, तीनों कालोंके पदार्थोंको जानते हैं, लोकालोकको जान रहे हैं और प्रतिक्षण ऐसा जानते रहते हैं। तो क्षायिकज्ञानमें भी पदार्थका प्रतिक्षण जानन चलता रहता है, इस कारण होता है परिवर्तन, पर छद्मस्थकी तरह संक्रमण रूप नहीं कि कभी किसी पदार्थको जाने, कभी किसीको। भगवानका ज्ञान इतना निर्मल है कि एक साथ ही सब पदार्थोंको जान लेते हैं। ऐसा जाननेकी सामर्थ्य हम आपमें भी है, लेकिन किसीमें रागद्वेष किया, किसीमें मोह बसाया, इस कारणसे हमारा ज्ञान सर्वज्ञ नही हो पा रहा है। यदि हम रागद्वेष मोहको त्याग दें, केवल ज्ञानस्वरूप निज तत्त्वको ही परखते रहें तो हम आपका ज्ञान भी निर्मल और सर्वज्ञ हो सकता है।

विकल्पः सोधिकारस्मिन्नाधिकारी मनागपि।
योगसंक्रान्तिरूपो यो विकल्पोऽधिकृतोऽधुना ॥८३९॥

क्षायिकज्ञानमें संक्रान्तिरूप विकल्पकी असम्भवता—विकल्पका यह लक्षण किया गया है। तो ज्ञानका स्वरूपमात्र जो विकल्प है उस विकल्पको विकल्प नहीं कहा करते, किन्तु जो उपयोग बदल गया उसका नाम विकल्प कहा गया है। जैसे हम आप इस समय पुस्तक देख रहे, जान रहे और थोड़ी देर बाद पुस्तकको छोड़कर टेबुल जानने लगें तो हमारा उपयोग बदल गया, पर भगवानका उपयोग नहीं बदलता। लोकमें जितने अनन्त पदार्थ हैं सभी पदार्थोंको पहिले भी जान रहे थे और दूसरे क्षणमें भी उन्हीं सब पदार्थोंको जान रहे हैं। भगवान चूंकि सबको एक साथ जानता है, इस कारण वहाँ यह सम्भव नहीं है कि अभी अमुक पदार्थको जानते थे, अब अमुक पदार्थको जानने लगे हैं तो ऐसा संक्रमण रूप विकल्प क्षायिकज्ञानमें नहीं होता।

ऐन्द्रियं तु पुनर्ज्ञानं न संक्रान्तिमृते क्वचित्।
यतोप्यस्य क्षणं यावदर्थादर्थान्तरे गतिः ॥८४०॥

ऐन्द्रिय ज्ञानमें ही विकल्पकी संभवता—यह इन्द्रियजन्य ज्ञानका अधिकार है अर्थात् नाक, आँख आदिक इन्द्रियसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह ज्ञान थोड़ा ज्ञान होता है और पदार्थको बदल-बदलकर जानता रहता है, ऐसा ज्ञान अल्पज्ञ जीवके है, सो उस ज्ञानका यहाँ अधिकार चल रहा है। इन्द्रियजन्य ज्ञान बदलनेके बिना नहीं होता, क्योंकि प्रतिक्षण एक पदार्थको छोड़कर अन्य पदार्थमें गति मिथ्यात्व रागवश हुआ करती है। यहाँ प्रकृतमें विचार

Report any errors at vikasnd@gmail.com

यह चल रहा है कि सराग सम्यक्त्व सविकल्प है, उसमें ज्ञानचेतना नहीं है। ऐसा किसी जिज्ञासुने कहा था तो आचार्यदेव कहते हैं कि यह कथन संगत नहीं है। सविकल्प सम्यक्त्व हो वहाँ भी ज्ञानचेतना होती है। सराग सम्यग्दृष्टिके विकल्प है। भले ही हो, पर वह विकल्प ज्ञानोपयोगके पलटने वाला है। जो ज्ञानके साथ है, मगर सम्यग्दर्शन होनेमें किसी भी प्रकारका विकल्प नहीं आता, और ऐसा विकल्प आता रहे ज्ञानी जीवके तो वह रागवश आता रहता है, परन्तु वहाँ ज्ञानचेतनामें बाधा नहीं आ सकती। सम्यग्दृष्टिके ज्ञानोपयोगका पलटन होता है, वह इन्द्रियजन्य ज्ञान होनेके कारण होता है। तो इन्द्रियजन्य ज्ञान सराग सम्यग्दृष्टिके है और वह ज्ञान जिस पदार्थको जाननेकी चेष्टा करता है उसीको जानता है। भले ही जान लिया। सम्यग्दृष्टिके सम्यक्त्वमें किसी भी प्रकारका विकल्प नहीं माना गया है। तो ज्ञानचेतना सम्यग्दृष्टिका प्रधान गुण है। वह अपनेको ज्ञानरूपमें अनुभव करता है। मैं किसी अन्य रूप नहीं, मैं ज्ञानमात्र ही हूं। ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है। ज्ञानका ही करना, ज्ञानका ही भोगना हुआ करता है। ऐसी श्रद्धामें ज्ञानचैतन्यगुण उल्लिसित रहता है।

इदं तु क्रमवर्त्यस्ति न स्यादक्रमवर्ति यद्।
एकां व्यक्तिं परित्यज्य पुनर्व्यक्तिं समाश्रयेत् ॥८४१॥

इन्द्रियज्ञानमें क्रमवर्तिताका नियम—इन्द्रियज ज्ञानके विषयमें विवरण चल रहा है कि इन्द्रियज्ञानमें प्रतिसमय अर्थसे अर्थान्तिर रूप परिवर्तन होता है, इसी कारण इन्द्रियज्ञान संक्रान्तिसहित है याने इन्द्रिय द्वारा अभी कुछ जाना, थोड़ी देर बाद कुछ जाना, इस तरह भिन्न-भिन्न पदार्थोंका बोध इन्द्रियज्ञानमें चलता है। उसी सम्बन्धमें यहाँ बता रहे हैं कि यह इन्द्रियज्ञान क्रमवर्ती है, अक्रमवर्ती नहीं है याने पदार्थोंको क्रम-क्रमसे जानने वाला है। इन्द्रियज्ञानकी यह ही पद्धति है कि एक व्यक्तिको पहिले जाना, फिर उस विवक्षित अर्थको छोड़कर अन्य व्यक्तिको जानने लगा। इन्द्रियज्ञान इसी तरह तो चलता है। एक ही इन्द्रियसे बहुत काल तक बोध किया जाय तो वहाँ भी अर्थ बदलता रहता है। फिर भिन्न-भिन्न इन्द्रियाँ हैं तब अन्य-अन्य इन्द्रियके द्वारा पदार्थोंको जाना जाय तो वहाँ विषय बदलेगा ही। इन्द्रियजन्य ज्ञान एक समयमें एक विषयको विषय करता है और उसे जानता है। दूसरे समयमें दूसरे विषयको जानेगा। एक साथ भिन्न समयोंमें रहने वाले विषयोंको विषय नहीं कर सकता और एक ही साथ रहने वाले पदार्थोंको भी सबको विषय नहीं कर सकता। इस कारण इन्द्रियजन्य ज्ञान क्रमवर्ती है, अक्रमवर्ती नहीं है और क्रमवर्ती होनेके कारण अर्थसे अर्थान्तरका परिवर्तन होता रहता है याने अभी कुछ जाना, थोड़ी देर बाद अन्य कुछ जाना। इस तरहसे इन्द्रियज्ञानमें ज्ञेय पदार्थ बदलते रहते हैं।

http://sahjanandvarnishastra.org/

इदं त्वावश्यकीः वृत्तिः समव्याप्तेरिवाद्वया ।
इयं तत्रैव नान्यत्र तत्रैवेयं न चेतराः ॥८४२॥

इन्द्रियजज्ञान और संक्रान्तिमें समव्याप्ति—यह प्रकरण चल रहा है ध्यानका । और ध्यानोंमें कौन ध्यान ? इन्द्रियजज्ञानियोंका ध्यान । जब तक कि वीतराग अवस्था नहीं होती है तब तक सभी ध्यान, सभी ज्ञान, अर्थसे अर्थान्तरको विषय करते रहते हैं, क्योंकि समस्त अर्थोंको तो वहाँ इन्द्रियज ज्ञान जानता नहीं, और इन्द्रियज ज्ञान बहुत देर तक एक प्रकार रह सकता नहीं, इसलिए वहाँ संक्रमण होना आवश्यक है । इस छन्दमें यह बतला रहे हैं कि इन्द्रियजन्य ज्ञान और पदार्थोंका संक्रमण अर्थात् ज्ञेय पदार्थ बदलते रहें, इन दोनोंमें समव्याप्ति है । वह किस प्रकार है सो सुनो—यहाँ दो बातोंका परस्परमें सम्बन्ध बतला रहे हैं—योगसंक्रान्ति और इन्द्रियजन्य ज्ञान । इन्द्रियजन्य ज्ञान जहाँ होता हो वहाँ योगसंक्रान्ति अवश्य है । जहाँ योगसंक्रान्ति हो रही हो वहाँ इन्द्रियज्ञान अवश्य है । इन दोनोंमें व्याप्ति पायी जा रही है । गुणस्थानकी विधिसे भी देखा जाय तो जितने गुणस्थान तक इन्द्रियजन्य ज्ञान है वहाँ तक योगका संक्रमण है । जहाँ-जहाँ योगका संक्रमण है वहाँ इन्द्रियजन्य ज्ञान है । ज्ञानके अतीन्द्रिय होनेपर योगसंक्रान्ति नहीं है तो ।

योगसंक्रान्ति व अर्थसंक्रान्तिमें समव्याप्ति—और भी देखिये कि योगसंक्रान्तिके होने पर ही अर्थसे अर्थान्तर परिणमन होता है याने मन, वचन, काय इन तीन योगोंमें से किसी के भी अवलम्बन द्वारा पदार्थका ज्ञान किया जा रहा हो और फिर दूसरे योगके अवलम्बनसे ज्ञान करे तो उसका नाम है योगसंक्रान्ति । और अभी किसी पदार्थको जाना जा रहा हो और कुछ समय बाद उस ही के अनन्तर दूसरे पदार्थको जाना जाय तो इसे कहते हैं अर्थान्तरसंक्रमण । तो योगसंक्रान्ति हो तबसे अर्थान्तरका ज्ञान होता है, याने योगसंक्रान्ति तो हो रही हो और वहाँ अर्थसे अर्थान्तरका संक्रमण न हो, यह न हो सकेगा । यहाँ समव्याप्ति जो बतायी गई है उसका भाव यह है कि व्याप्ति दोनों तरफसे लग रही है ।

जैसे रूप और रसमें समव्याप्ति है । जहाँ रूप है वहाँ रस अवश्य है । जहाँ रस है वहां रूप अवश्य है । इस तरह रूप और रसमें दोनों ओरसे व्याप्ति बनती है और इस व्याप्तिका पोषण इस तरहसे करेंगे । इन दोनोंमें से यदि कोई एक न हो तो दूसरा भी नहीं रह सकता । जहाँ रस नहीं है वहाँ रूप नहीं है, जहाँ रूप नहीं है वहाँ रस नहीं है । तो दोनों तरफसे जो व्याप्ति लगे उसका नाम है समव्याप्ति और जहाँ एक तरफसे व्याप्ति हो उसे कहते है विसमव्याप्ति । जैसे अग्निका परिज्ञान करनेमें धूम साधन बनाया जाता । तो यहाँ व्याप्ति एक ओरसे है । जहाँ जहाँ धुवाँ होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है । यह बात तो निभा सकेंगे, पर यह न निभा सकेंगे कि जहाँ-जहाँ अग्नि होती है वहाँ-वहाँ धूम होता है । जैसे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

तेज शुद्ध कोयलेकी आँच हो वहाँ अग्नि तो है, पर धुवाँ नहीं अथवा तपे हुए तेज लाल लोहे का गोला हो तो अग्नि तो है, उसपर कुछ भी चीज रखें तो वह जल जायगी, लेकिन धुवाँ नहीं हो रहा है। कदाचित् इतने तेज लाल गोलेपर घास डाल दी जाय और धुवां होने लगे तो वह घास वाली अग्निसे धुवां होता है। तो कोई अग्नि ऐसी होती है कि जिससे धुवां प्रकट है, किसी अग्निसे धुवाँ प्रकट नहीं है, तो यहाँ दोनों ओरसे व्याप्ति न लग सकी। जहाँ-धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है, यह व्याप्ति तो बन गई, पर जहाँ-जहाँ अग्नि हो वहां-वहां धूम है यह व्याप्ति नहीं बनती, इस कारण इसे विसमव्याप्ति बोलते हैं। अब समव्याप्ति और विसम-व्याप्तिका भेद समझनेके बाद प्रकृत बातपर आयें। यह योगसंक्रान्ति और इन्द्रियज्ञान अथवा कहो अर्थसे अर्थान्तर गमन, इन दोनोंमें व्याप्ति बतायी जा रही है। जहाँ-जहाँ योगसंक्रान्ति होती है वहाँ-वहाँ ज्ञानसम्बंधी अर्थान्तर गति होती है, याने एक अर्थको छोड़कर दूसरे अर्थका ज्ञान करना, ऐसा संक्रमण होता रहता है। यह एक तरफसे व्याप्ति हुई, अब दूसरी तरफसे भी व्याप्ति देखिये—जहाँ-जहाँ इन्द्रियज्ञान सम्बंधी अर्थान्तर गति होती है अर्थात् ऐसा इन्द्रिय-जन्य ज्ञान जिसमें सभीमें अर्थसे अर्थान्तर गमन चलता रहता है, ऐसी अर्थान्तरगति जहाँ हो वहाँ योगसंक्रान्ति भी अवश्य होती है। साथ ही इस समव्याप्तिका पोषण व्यतिरेक पद्धतिसे भी कर लीजिए। ये दोनों परस्परमें एक दूसरेके अभावमें नहीं रह सकते। जहाँ योगसंक्रान्ति नहीं वहाँ अर्थान्तर गति नहीं, जहाँ अर्थान्तर गति नहीं वहाँ योगसंक्रान्ति नहीं। तो इन दोनोंमें समव्याप्ति है। तब जिन ध्यानोंमें संक्रमण होता है उन ध्यानोंमें यह समव्याप्ति ठीक घटित हो रही है।

यत्पुनर्ज्ञानमेकत्र नैरन्तर्येण कुत्रचित्।
अस्ति तद्ध्यानमत्रापि क्रमो नाप्यक्रमोऽर्थतः ॥८४३॥

ध्यानमें भी क्रम और संक्रम—अब यहाँ उसी प्रकृत सम्बन्धमें और विचार किया जा रहा है कि जो किसी एक विषयमें निरन्तर रूपसे ज्ञान रहता है ध्यान उसीको ही तो कहते हैं। तो यहाँ यद्यपि ध्यान निरन्तर रह रहा है, फिर भी इस ध्यानमें वास्तवमें क्रम ही है, अक्रम नहीं है। ध्यानका अर्थ हो रहा है कि अन्य समस्त विषयोंसे चित्तको हटाकर किसी एक विषयमें चित्त लगाना। जिसे परिभाषामें कहा है एकाग्र चिन्तानिरोधो ध्यानं, तो एक विषयमें चित्त लगनेका नाम ध्यान है और यह ध्यान श्रुतज्ञानकी पर्याय है। तो यहाँ जो चित्तकी एकाग्रता होती है तो है तो एकाग्रता, लेकिन इसे सर्वथा यों नहीं कह सकते कि चित्तकी चंचलता नहीं है, चित्त अचंचल है, यह बात यहाँ भी नहीं है। हाँ इतनी बात अवश्य होती है कि अन्य समस्त विषयोंमें चित्तको हटाया है और किसी एक विषयमें चित्तको बार-बार लगाया जा रहा है। बस ध्यान इसीका नाम है कि एक विषयमें उपयोगको बार-

बार लगाये रहना। तो एक ओर ध्यान लगा है। कहनेमें एक ओर है, किन्तु इस ध्यानमें भी बराबर ज्ञानकी प्रवृत्ति चल रही है, उपयोग चल रहा है। इस कारणसे क्रमवर्तीपना यहाँ भी सिद्ध होता है।

एकरूपमिवाभाति ज्ञानं ध्यानैकतानतः।
तत्स्यात्पुनः पुनर्वृत्तरूपं स्यात्क्रमवर्ति च ॥८४४॥

एकरूप प्रतीत होने वाले ध्यानमें भी पुनः पुनर्वृत्तिरूप क्रमवर्तिता—ध्यानकी एकाग्रता के कारण यह ज्ञान अथवा ध्यान एक रूपकी तरह लग रहा है याने इस ध्यानमें यह समझमें आ रहा है कि यह तो अक्रमवर्ती एक साथ ही एक विषयको बहुत देर तक पकड़े हुए है, परन्तु वह ध्यानरूप ज्ञान चूँकि बार-बार वृत्ति कर रहा है, कर रहा हो उसके विषयमें वृत्ति होनेके कारण यह ध्यानरूप ज्ञान क्रमवर्ती ही है। यहाँ यह बात बताई गई है कि ध्यानमें क्रमवर्तिता मौजूद है। इस कारणसे कोई यह शंका न करे कि योगसंक्रान्ति और क्रमवर्तित्व की व्याप्ति न होगी, वह व्याप्ति बराबर है। ज्ञान एक विषयमें बार-बार प्रवृत्त हो रहा है, इसीका नाम ध्यान है, लेकिन बार-बार जो ज्ञानकी परिणति चल रही है सो भिन्न-भिन्न समयोंमें उन भिन्न-भिन्न वृत्तियोंके समय विषय भिन्न-भिन्न ही हो रहा है। तो यो अर्थ-संक्रान्ति और क्रमवर्तीपना—ये दोनों बातें इन्द्रियज्ञानमें सिद्ध होती हैं और इसमें समव्याप्ति सिद्ध होती है।

नात्र हेतुः परं साध्ये क्रमत्वेऽर्थान्तराकृतिः।
किन्तु तत्रैव चैकार्थे पुनर्वृत्तरपि क्रमात् ॥८४५॥

ध्यानमें क्रमवर्तिताका कारण पुनःपुनर्वृत्ति—इस प्रकरणमें यह बताया जा रहा है कि इन्द्रियज ज्ञान क्रमवर्ती होता है तो इन्द्रियज ज्ञानका क्रमवर्तीपना सिद्ध करते समय हेतु यह न देना चाहिए कि चूंकि वह अर्थान्तर आकार होता है, इस कारण क्रमवर्ती है, किन्तु उस ही एक अर्थमें क्रमसे इन्द्रियज्ञानकी वृत्ति चल रही है उसकी अशक्तिसे, उसकी योग्यता से। इन्द्रियज ज्ञानकी पद्धति ही यह है, इसलिए वह क्रमवर्ती है, अपने आपकी ओरसे और वहाँ अर्थको अर्थान्तरका विषय परिवर्तित होता रहता है। और भी देखिये—जैसे एक पदार्थ से हटकर दूसरे पदार्थका ज्ञान बना तो क्या हुआ वहाँ? अर्थान्तराकार हुआ। तो ऐसा अर्थान्तराकार होनेसे इन्द्रियजन्य ज्ञानमें क्रमवर्तीपना सिद्ध होता है। यह मानकर चलें तो इस ही तरह यह भी सिद्ध कर लीजिए कि किसी एक विषयमें बार-बार जो इन्द्रियज ज्ञानकी वृत्ति चल रही है उससे यह क्रमवर्ती है, यह भी सिद्ध होता है। तो लो यों भले प्रकारसे यह बात सिद्ध हो गयी कि ध्यानमें भी यह ज्ञान क्रमवर्ती हो रहा है और क्रमवर्ती ध्यानके संतानको भी ध्यान रहा करते हैं।

नोह्यं तत्राप्यतिव्याप्तिः क्षायिकात्यक्षसंविदि ।
स्यात्परीणामवत्त्वेऽपि पुनर्वृत्तेरसम्भवात् ॥८४६॥

क्षायिक ज्ञानमें परिणामवत्त्व होनेपर भी पुनर्वृत्तिकी असंभवतासे अतिव्याप्ति दोषका अभाव—यहाँ कोई शङ्काकार ऐसी तर्क कर रहा है कि अर्थसे अर्थान्तर गतिकी जो विधि कही है उस विधिके अनुसार तो क्षायिक ज्ञानमें याने अतीन्द्रिय सकल प्रत्यक्ष केवलज्ञानमें भी यह व्याप्ति प्हुंच जायगी तो अतिव्याप्तिका दोष आ जायगा। ऐसी शंका करने वालोंके प्रति समाधान दिया जा रहा है कि देखिये—केवलज्ञानमें स्वाभाविक रूपसे परिणमन हो रहा है। यद्यपि यह बात कही है कि इन्द्रियज्ञानमें बार-बार जाननेकी वृत्ति हो रही है तो भी बार-बार वृत्तिकी बात, ऐसे केवलज्ञानमें न बतायी जा सकेगी। केवलज्ञानमें हो रहा है स्वाभाविकरूप से परिणमन निरन्तर प्रतिसमय चलता हुआ होनेपर भी पुनर्वृत्तिकी बात नहीं कह सकते। पुनर्वृत्तिकी बात तो रागवश हुआ करती है। जहाँ रागादिक दोष रंच भी नहीं रहे वहाँ ज्ञान की पुनर्वृत्तिका अर्थ ही क्या ? शंकाकार अतिव्याप्ति दोषका प्रसङ्ग बतला रहा था। अतिव्याप्तिका अर्थ है कि लक्षण अलक्षमें भी चला जाय। अतिव्याप्ति शब्दका अर्थ है—अति मायने अधिक, व्याप्ति मायने रहना, याने जिसका लक्षण किया जा रहा है उस लक्ष्यमें तो लक्षणका रहना होता ही है। अगर लक्ष्यके अतिरिक्त अलक्षमें भी पहुंच जाय तो उसे अतिव्याप्ति कहते हैं। ऐसी अतिव्याप्तिको ध्यानमें रखकर शंकाकारका यह कहना था कि यदि कदाचित् यह कहें कि ध्यानमें क्रमवर्तिता माननेसे केवलीके ध्यानमें भी क्रमवर्तिता आ जायगी। यहाँ साधारणतया यह कहा जा रहा है कि ध्यानमें क्रमवर्तिता होती है तो ध्यान तो केवलीके भी बताया गया है तो ध्यानमें क्रमवर्तिता है, ऐसा कहनेपर वहाँ भी क्रमवर्तिता का प्रसङ्ग आयगा। उस शंकाके समाधानमें बतला रहे हैं कि यहाँ अतिव्याप्ति प्रसंग यों नहीं आता कि केवली भगवानके अतीन्द्रिय क्षायिक ज्ञानमें पुनर्वृत्ति नहीं होती, अतएव वह क्रमवर्ती नहीं है, किन्तु अक्रमवर्ती है अर्थात् केवलज्ञान एक साथ अनन्त पदार्थोंका जाननहार होता है। तो ऐसे निरन्तर विशुद्ध ज्ञातादृष्टा सर्वज्ञदेवमें जो ध्यान शब्दकी वृत्ति है याने उस स्थितिको जो ध्यान शब्दसे कहा है वह तो एक उपचार कथन है, क्योंकि वास्तवमें ध्यान तो श्रुतज्ञानकी पर्याय है। जहाँ वीतराग हुआ, सर्वज्ञ हुआ उस प्रभुके श्रुतज्ञान कहाँ ? केवल ज्ञान ही है। इस कारण वास्तवमें ध्यान १२वें गुणस्थानके उपान्त समय तक ही होता याने अंतिम समयसे पहिले तक ही होता है और १२वें गुणस्थानसे १३वें गुणस्थानमें निर्जरा पायी जा रही है। इस कारणसे कर्मकी निर्जरा देखकर चूंकि यह निर्जरा अब तक ध्यानके कारण हो रही है तो ध्यानका कार्य निर्जरा है, इस तरहकी बुद्धि रखकर वहाँ भी ध्यानका उपचार किया गया है। वस्तुतः ध्यान वहीं तक है जहाँ तक **इन्द्रियजन्य ज्ञान हो।**

http://sahjanandvarnishastra.org/

यावच्छद्मस्थजीवानामस्तिज्ञानचतुष्टयम् ।
नियतक्रमवर्तित्वात्सर्वं संक्रमणात्मकम् ॥८४७॥

चतुर्विध क्षायोपशमिक ज्ञानोंमें संक्रमणात्मकता—उक्त श्लोकमें यह बात कही गई है कि क्रमवर्तीपना इन्द्रियजन्य ज्ञानमें ही है, केवलज्ञानमें नहीं है। इस ही का कारण इस श्लोकमें बताया जा रहा है। छद्मस्थ जीवोंमें जो चार ज्ञान पाये जाते हैं वे सब नियमसे क्रमवर्ती हैं, इसी कारण सब संक्रमणरूप होते हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय-ज्ञान—ये चार ज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान हैं और होते हैं ये छद्मस्थ जीवके। तो ये चारों ही क्षायोपशमिक ज्ञान संक्रमणात्मक होते हैं और केवलीका क्षायिक ज्ञान असंक्रमणात्मक होता है याने केवलज्ञानमें अर्थसे अर्थान्तर, योगसे योगान्तर रूप संक्रमण नहीं पाया जाता है, अतएव यह बात अयुक्तिक सिद्ध हुई कि इन्द्रियजन्य ज्ञानमें क्रमवर्तिता होती है।

नालं दोषाय तच्छक्तिः सूक्तं संक्रांतिलक्षणा ।
हेतोर्वैभाविकत्वेऽपि शक्तित्वाज्ज्ञानशक्तिवत् ॥८४८॥

क्षायोपशमिक ज्ञानके विकल्पोंमें सम्यक्त्वदोष करनेकी अशक्ति—यद्यपि मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय—ये चार क्षायोपशमिक ज्ञान वैभाविक ज्ञान हैं, फिर भी शक्तिपने रूप हेतुसे ज्ञानशक्तिकी तरह संक्रान्तिरूप जो शक्ति है वह सम्यक्त्वके दोषके लिए समर्थ नहीं है। यद्यपि इन सभी क्षायोपशमिक ज्ञानोंमें संक्रमण है और वैभाविकपना है, फिर भी सम्यक्त्व का घात कर दे, ऐसे दोषकी बात इन ज्ञानोंमें नहीं कही जा सकती याने यह ज्ञान अपनी शक्तिसे सम्यग्दर्शनमें बाधा नहीं डाल सकता। इस कारण ये चारों ज्ञान वैभाविक हैं और इनसे विकल्पकी उपपत्ति है तो जैसे परमें विकल्पात्मकताके कारण सम्यक्त्वमें दोष उत्पन्न नहीं होता, इसी कारण जो सम्यक्त्व है वह सब निर्विकल्प है। जब किसी भी क्षायोपशमिक ज्ञानके द्वारा जो कि विकल्पात्मक है सम्यक्त्वमें दोष न किया जा सका तो सम्यक्त्वको विक-ल्पात्मक कैसे कहा जायगा? सम्यग्दर्शन चाहे सराग जीवके हो, चाहे वीतराग जीवके हो, पर सम्यग्दर्शनका जो स्वरूप है वह तो एक-एक प्रकार निर्विकल्प सहज स्वच्छ प्रकाशरूप है। उस सम्यक्त्वमें किसी भी प्रकार इन ज्ञानोंके विकल्पके कारण बाधा नहीं आ सकती।

ज्ञानसंचेतनायास्तु न स्यात्तद्विघ्नकारणम् ।
तत्पर्यायस्तदेवेति तद्विकल्पो न तद्रिपुः ॥८४९॥

क्षायोपशमिक ज्ञानके विकल्पोंसे ज्ञानचेतनामें बाधाका अभाव—उक्त श्लोकमें यह बताया गया था कि क्षायोपशमिक ज्ञानके विकल्पके कारण सम्यक्त्वमें दोष नहीं आता। उसी प्रकार इस श्लोकमें यह समझ लेना चाहिए कि क्षायोपशमिक ज्ञानके विकल्पसे ज्ञानचेतनामें भी बाधा नहीं आती, और इसी कारण स्पष्ट है कि जिस गुणकी जो पर्याय होती है वह पर्याय

Report any errors at vikasnd@gmail.com

कथञ्चित तद्रूप हुआ करती है। तो क्षायोपशमिक ज्ञानमें जो विकल्प आया, पर्यायार्थिक नय की दृष्टिसे विकल्पात्मकताका स्वभाव बना उस क्षायोपशमिक ज्ञानमें तो बना, वह विकल्प ज्ञान का परिणमन है, तो विकल्पसे जो बात बनी अच्छी बुरी, उसका प्रभाव ज्ञानपर होगा। जिस ज्ञानका जो परिणमन है उस परिणमनका प्रभाव उस ही ज्ञानमें सम्भव है। ज्ञानचेतनारूप शुद्ध ज्ञानका वह बाधक नहीं हो सकता। ज्ञानचेतना यद्यपि शब्ददृष्टिसे लग रहा है कि ज्ञान का चेतना ज्ञानका परिणमन, लेकिन ज्ञानचेतना सम्यक्त्वके साथ उत्पन्न होती है। उस ज्ञान-चेतनाका अधिक सम्बंध सम्यक्त्वके साथ है। तो ज्ञानचेतनाके लिए भी चारों ही ज्ञानोंका संक्रमण होना बाधक नहीं है। यह ज्ञान यदि बदलता रहता है तो बदलने पर उससे ज्ञान-चेतनामें बाधा नहीं आती। हाँ ज्ञानचेतनाका बाधक विवक्षित ज्ञानावरणका उदय ही हो सकेगा याने ज्ञानचेतना वर्णका उदय ज्ञानचेतनाका बाधक होगा, पर ज्ञानावरणका क्षायोपश-मिक ज्ञानचेतनाका बाधक न होगा। जैसे कि ज्ञानावरणका क्षय क्या ज्ञानचेतनाका बाधक है? वह बाधक नहीं है। तो क्षायोपशमिक भी कुछ-कुछ क्षय जैसी ही तो चीज है। ज्ञाना-वरणका क्षयोपशम भी ज्ञानचेतनाका बाधक कैसे हो सकता? अब यहाँ क्षायोपशमिक ज्ञानकी पर्यायको देखिये—यह पर्याय ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे हुई है, अतएव वैभाविक है, लेकिन यह सम्यक्त्वकी सहभाविनी, ज्ञानचेतनाका बाधक नहीं हो सकती। इसका कारण स्पष्ट बताया है कि ज्ञानकी पर्यायें हैं ये क्षायोपशमिक रूप। यह ज्ञानगुण रूप ही पड़ता है। तो क्षायोप-शमिक ज्ञान अथवा उसका विकल्पज्ञान चेतनामें बाधा देनेमें कैसे समर्थ हो सकेगा? गुणका विकास कहीं गुणका बाधक हुआ करता है? क्षायोपशमिक ज्ञानके विकल्पमें भी हुआ तो ज्ञान का ही विकास है। वह विकास ज्ञानका कैसे बाधक है? इस युक्तिसे भी ये चारों क्षायोपश-मिक ज्ञानके विकल्प ज्ञानचेतनाके बाधक नहीं हो सकते।

ननु चेति प्रतिज्ञा स्यादर्थादर्थान्तरे गतिः।
आत्मनोऽन्यत्र तत्रास्ति ज्ञानसंचेतनान्तरम् ॥८५०॥

ज्ञानचेतनारूप मतिज्ञानमें अर्थसंक्रान्ति होनेकी शंकाकार द्वारा आशंका—उक्त श्लोक में यह बताया था कि इन्द्रियज ज्ञानका सक्रमण होता रहता है तिसपर भी सम्यग्दृष्टिके ज्ञान-चेतनामें किसी भी प्रकारकी बाधा नहीं आती। इसपर शंकाकार यह कहता है कि यदि ज्ञानका संक्रमण होनेपर भी ज्ञानचेतनामें किसी भी प्रकारकी बाधा नहीं आ सकती तो ज्ञानचेतना में मतिज्ञानपनेके कारण अर्थसे अर्थान्तररूप संक्रमण होता है, यह प्रतिज्ञा यहाँ रख लीजिए। इन्द्रियज ज्ञानका संक्रमण होता है तिसपर भी ज्ञानचेतनामें बाधा और संक्रान्ति नहीं होती। तो इस विषयमें शंकाकार कुछ दखल न देकर वह ज्ञानचेतनामें ही कह रहा है कि ज्ञानचेतना भी तो मतिज्ञान है तो मतिज्ञानपनेके कारण ज्ञानचेतनामें स्वयं संक्रमण होता है, यह बात

मान लीजिये। और ऐसा मान लेनेपर आत्माके सिवाय अन्य विषयोंमें भी ज्ञानचेतनाका उपयोग होता है, यह मानना पड़ेगा अर्थात् जब ज्ञानचेतनामें संक्रमण सिद्ध हो गया तो संक्रमणका अर्थ यह होगा कि ज्ञानचेतनामें पहिले आत्मा विषय होता था, अब अन्य पदार्थ विषय होने लगा, सो ज्ञानचेतनाका विषय आत्माके सिवाय अन्य पदार्थ भी मानना पड़ेगा। ज्ञानचेतनाका निरुक्ति अर्थ तो यह है कि जिस चेतना परिणतिके द्वारा शुद्ध आत्मा जाना जाय उसे ज्ञानचेतना कहते हैं, परन्तु इस प्रकरणमें जैसे सम्यग्दृष्टिके क्षायोपशमिक ज्ञानमें संक्रमण माना है कि सम्यग्दृष्टिके अन्य क्षायोपशमिक ज्ञान इन्द्रियज ज्ञान हैं, उनका विषय बदलता रहता है याने अर्थसे अर्थान्तर होता रहता है, ऐसे ही ज्ञानचेतना भी तो है, क्षायोपशमिक है, तो क्षायोपशमिकपनेके कारण ज्ञानचेतनामें भी संक्रमण मान लेना पड़ेगा। ऐसा यहाँ शङ्काकारका मंतव्य है और यह भी मंतव्य है कि जब ज्ञानचेतनामें संक्रमण सिद्ध हो गया तो उसका अर्थ यह रहा कि ज्ञानचेतनाका विषय शुद्ध आत्मा न होकर अन्य भी विषय होते हैं, यह मानना होगा। इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि—

सत्यं हेतोर्विपक्षत्वे वृत्तित्वाव्यभिचारिता।
यतोऽत्रान्यात्मनोऽन्यत्र स्वात्मनि ज्ञानचेतना ॥८५१॥

ज्ञानचेतनाका एक स्वात्मा विषय बताते हुए उक्त शंकाका समाधान—शंकाकारका कहना उसकी दृष्टिमें ठीक है। उसका मंतव्य था कि हेतुमें अगर विपक्ष वृत्ति पायी जाय अर्थात् हेतु विपक्षमें रहने लगे तो हेतु व्यभिचारी कहला सकता है, परन्तु यहाँ तो यह बात है कि ज्ञानचेतनामें जो आत्माकी प्रवृत्ति होती है सो वह किस प्रकार होती है ? उसके विषयपर जरा ध्यान दें तो शंका न रह सकेगी। ज्ञानचेतनामें आत्मप्रवृत्ति होती है तो वह परपदार्थोंसे आत्माको हटाकर बार-बार निज आत्मामें स्थापित करता है तो विषय तो एक आत्मा ही रहा। अब ज्ञानचेतनामें संक्रान्ति या क्रमवर्तिता नहीं हुई, अतएव क्रमवर्तीपनेसे जब विपक्ष वृत्ति सम्भव ही नहीं हो सकती तो हेतुको व्यभिचारी नहीं कहा जा सकता। पर स्वरूप पर पदार्थसे भिन्न इस निज आत्मामें ही ज्ञानचेतना होती है और अन्य प्रकारके जो ज्ञान हैं उन क्षायोपशमिक ज्ञानोंमें अर्थसे अर्थान्तरका संक्रमण होता रहता है। इस कारण अन्य क्षायोपशमिक ज्ञानोंमें अर्थसे अर्थान्तरका परिवर्तन निरखकर ज्ञानचेतनामें भी अनात्मतत्त्वको विषय बनानेका प्रयत्न करना निष्फल है।

किं च सर्वस्य सद्दृष्टेर्नित्यं स्याज्ज्ञानचेतना।
अव्युच्छिन्नप्रवाहेण यद्वाऽखण्डैकधारया ॥८५२॥

ज्ञानचेतनामें अर्थसंक्रान्तिके अभावका समर्थन—ज्ञानचेतनाके सम्बंधमें और भी विशेष निर्णय कीजिए। देखिये समस्त सम्यग्दृष्टियोंके ज्ञानचेतना नित्य रहा करती है और

Report any errors at vikasnd@gmail.com

ज्ञानचेतना अविच्छिन्न धारासे अथवा अखण्ड एक धारासे निरन्तर रहा करती है। सम्यग्दृष्टि जीवके याने जिसके सम्यक्त्व है जब तक सम्यक्त्व है तब तक अवश्य ही एक प्रवाहरूपसे अथवा अखण्ड धारा रूपसे उसमें ज्ञानचेतना निरन्तर रहा करती है। यहाँ अविच्छिन्न धारा से या अखण्ड रूपसे जो ज्ञानचेतना रहनेकी बात कही जाय, सो वह लब्धिकी अपेक्षासे सदा रहनेके कारण कहा है। जब तक सम्यक्त्व रहता है तब तक लब्धिरूप ज्ञानचेतना अवश्य रहती है। ज्ञानचेतनाकी अनन्तर धारामें अन्तः प्रवेशमें किसी भी प्रकारकी बाधा सम्भव नहीं है। तब क्षायोपशमिक ज्ञानमें अर्थान्तर संक्रमण होना भी ठीक है, किन्तु ज्ञानचेतनामें अर्थान्तर संक्रमण नहीं होता।

हेतुस्तत्रास्ति सध्रीची सम्यक्त्वेनान्वयादिह।
ज्ञानसंचेतनालब्धिर्नित्या स्वावरणव्ययात् ॥८५३॥

ज्ञानचेतनामें अर्थसंक्रान्ति न होनेका कारण—उक्त श्लोकमें यह बताया गया है कि सम्यग्दृष्टि जीवके ज्ञानचेतनाकी सदा उपलब्धि है। इस छन्दमें यह बतला रहे हैं कि इसका क्या कारण है कि सम्यग्दृष्टि जीवके ज्ञानचेतना सदा पायी जाती है? इसका कारण यह है कि सम्यक्त्वके साथ अविनाभाव रूपसे होने वाली समीचीन ज्ञानचेतना सदा पायी जाती है। ज्ञानचेतना होनेका कारण है स्वानुभूत्यावरणका क्षयोपशम। तो यह आत्मा सहज जिस स्वरूपमें है उस स्वरूपमें ज्ञान होना, क्षयोपशम होना उसका नाम है ज्ञानचेतना। लब्धिमें सहज परमात्मतत्त्व भी पदार्थ है। इसका आवरण करने वाले कर्मका क्षयोपशम हुआ तो इस सहज आत्मस्वरूपको जाननेकी लब्धि सदा रही। अब उपयोगकी बात है कि जब उपयोग हुआ स्वात्मतत्त्वपर तो वहाँ सद्भूत होता है, उपयोग न हो तो परका परिचय होता है, लेकिन ज्ञानचेतनाकी लब्धि सम्यग्दृष्टिके सदा रहती है। यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान उत्पत्ति की दृष्टिसे एक ही काल है, जिस ही कालमें सम्यग्दर्शन होता है, उस ही कालमें सम्यग्ज्ञान है, फिर भी इन दोनोंका कार्यकारण भाव है याने सम्यग्दर्शनके होनेपर ज्ञानमें सम्यक्पना आता है तो सम्यग्ज्ञान हुआ कार्य और सम्यग्दर्शन हुआ कारण। तो सम्यग्दर्शनके होनेपर ही ज्ञानमें सम्यक्पना आया। इसका कारण यह है कि जिस समय मिथ्यात्वकर्मका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होता है उसी समय याने मिथ्यात्वके अभावके साथ ही स्वानुभूत्यावरण बाधक मतिज्ञानावरणका क्षयोपशम हो ही जाता है। यही कारण है कि जिस कालमें सम्यक्त्व उत्पन्न होता है उस ही कालमें सम्यग्ज्ञान हो जाता है। सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञानके बाधक क्या हैं? सम्यक्त्वके बाधक तो हैं मिथ्यात्वकर्म अथवा कहो अनन्तानुबंधी चारों कषायें—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यग्प्रकृति और सम्यग्ज्ञानका बाधक है स्वानुभूत्यावरण। तो दोनों ही कर्मोंका एक साथ व्यय होता है, इस कारण सम्यक्त्वकी और सम्यग्ज्ञान

की एक साथ उत्पत्ति होती है। सो जब तक सम्यक्त्व रहता है तब तक यह लब्धिरूप ज्ञानचेतना भी अखण्ड धारासे प्रवाह रूपसे निरन्तर अवश्य ही रहती है। इस कारण सम्यक्त्वके साथ ज्ञानचेतनाका नित्य सम्बंध सिद्ध होता है तभी ज्ञानचेतनाको नित्य कहा गया है। जब स्वानुभूत्यावरणका क्षयोपशम हुआ है तब ही सम्यग्दर्शन हो गया है। तो जब तक सम्यग्दर्शन रहेगा तब तक ज्ञानचेतना भी निरन्तर रहेगी और क्षायिक सम्यक्त्व होनेपर तो सन्देह ही नहीं कि ज्ञानचेतनाका कभी अभाव हो।

कादाचित्काऽस्ति ज्ञानस्य चेतना स्वोपयोगिनी।
नालं लब्धेर्विनाशाय समव्याप्तेरसम्भवात् ॥८५४॥

उपयोगमयी ज्ञानचेतनाके विनाशकी सिद्धिका अनियम—स्वानुभूत्यावरण कर्मका क्षयोपशम होनेसे ज्ञानचेतनामें लब्धि प्रकट हुई है तो पहिली बार तो यह नियम है कि जब ज्ञानचेतनाकी लब्धि होती है तो उपयोग भी होता है याने स्वानुभूतिके साथ सम्यग्दर्शन होता है। तो प्रथम क्षणमें उत्पन्न समयमें तो स्वानुभूत्यावरण कर्मका क्षयोपशम है, ज्ञानचेतनाकी लब्धि है और स्वानुभूति है, लेकिन बादमें स्वानुभूति रहे और न भी रहे, दोनों स्थितियाँ हो सकती हैं, पर सम्यक्त्वके होनेके कारण ज्ञानचेतना निरन्तर बनी रहती है। लब्धि और उपयोगमें समव्याप्ति नहीं है कि लब्धि हो तो नियमसे हो ही वह। यदा कभी आत्मउपयोग में तत्पर रहने वाली उपयोगमयी ज्ञानचेतना रहो अथवा न रहो, उपयोगमयी ज्ञानचेतना न रहनेके कारण लब्धिरूप ज्ञानचेतनाका विनाश हो जाय, ऐसा नहीं होता। भावेन्द्रिय और भावमन—ये दोनों लब्धि तथा उपयोगरूप होता है तो जैसे ये दोनों प्रकारके हैं उसी प्रकार ज्ञानचेतना भी लब्धिरूप और उपयोगरूप होता है। स्वानुभूत्यावरण कर्मके क्षयोपशमसे ज्ञानचेतना उत्पन्न हुई, सो यह लब्धिरूप तो सदा रहेगा और उपयोगरूप जब कभी भी हो। यद्यपि ज्ञानकी लब्धि एक साथ रह सकती, कितने ज्ञानोंकी योग्यता है? कितने पदार्थोंके जाननेका इसमें सामर्थ्य है? जितना जाननेकी सामर्थ्य है उतनीकी लब्धि निरन्तर है, किन्तु उपयोग तो एक समयमें एक जातिको ही होता है। जिस समय सम्यग्दृष्टि जीवके कोई इन्द्रिय उपयोग हो या अन्य किसी प्रकारका श्रुतज्ञानोपयोग हो उस समय उस सम्यग्दृष्टि जीवके उपयोगमयी ज्ञानचेतना नहीं है, फिर भी लब्धिरूप ज्ञानचेतना तो बराबर है। इसी कारण जिस समय उस सम्यग्दृष्टि जीवके उपयोगरूप ज्ञानचेतना नहीं है उस समय भी उसकी लब्धिरूप ज्ञानचेतना होती है। कहीं ऐसा न हो सकेगा कि उपयोगमयी ज्ञानचेतना न हो तो लब्धिरूप ज्ञानचेतनाका भी नाश हो। ऐसा क्यों नहीं हो सकता? उसका कारण यह है कि लब्धि और उपयोग—इन दोनोंमें समव्याप्ति नहीं है। लब्धि रहे, उपयोग न रहे। अतएव उपयोगात्मक ज्ञानचेतनाका अभाव भी हो तो वह लब्धिरूप-ज्ञानचेतनाका बाधक नहीं हो

http://www.jainkosh.org

सकता । इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि सम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतनामें तो बाधा नहीं आती, लेकिन क्षायोपशमिक ज्ञानमें, अन्य इन्द्रियज ज्ञानादिकमें अर्थान्तरका संक्रमण होता रहता है ।

अस्त्यत्र विषमव्याप्तिर्यावल्लब्ध्युपयोगयोः ।
लब्धि क्षतेरवश्यं स्यादुपयोगक्षतिर्यतः ॥८५५॥
अभावात्तुपयोगस्य क्षतिलब्धेश्च वा न वा ।
यत्तदावरणस्यामा दृशा व्याप्तिर्नचामुना ॥८५६॥
अवश्यं सति सम्यक्त्वे तल्लब्ध्यावरण क्षतिः ।
न तत्क्षतिरसत्यत्र सिद्धमेतज्जिनागमात् ॥८५७॥

लब्धिरूप ज्ञानचेतना व उपयोगमयी ज्ञानचेतनामें विषमव्याप्ति—समस्त लब्धियोंमें और उपयोगमें विसमव्याप्ति रहती है, क्योंकि लब्धिके नाशसे क्लेश विकारका नाश होता है । यहाँ इस तरहकी व्याप्ति समझना कि लब्धि जब उपयोग हो अथवा न हो, किन्तु जब उपयोग हो रहा है तो उनकी लब्धि अवश्य है । लब्धिका नाश होनेसे उपयोगका नाश होता है, किन्तु उपयोग न हो तो उससे कहीं लब्धिका नाश नहीं होता । तो जहाँ–जहां आप उपयोग पायेंगे वहां यह निर्णय पायेंगे कि इसकी लब्धि याने जाननेकी शक्ति अवश्य है, पर जहाँ जाननेकी शक्ति है वहाँ उसका उपयोग हो अथवा न भी हो । जैसे दर्शनमोहमें क्षयोपशम आदिक होनेके साथ स्वानुभूत्यावरणके क्षयोपशमकी लब्धि होती है, सम्यक्त्व है वहां ज्ञान-चेतना अवश्य है । जिस ही कालमें दर्शनमोहका प्रक्षय है उस ही कालमें स्वानुभूत्यावरण कर्मका भी प्रक्षय है । यों सम्यक्त्व और लब्धि रूप ज्ञानचेतनामें समव्याप्ति है । तो जिस तरह यहां समव्याप्ति है उसी प्रकार ज्ञानचेतनाके उपयोगके साथ समव्याप्ति सम्यक्त्वकी नहीं है याने सम्यक्त्वके होते हुए भी उपयोगरूप ज्ञानचेतना हो भी सकती, नहीं भी हो सकती । सम्यक्त्वके होते ही ज्ञानचेतनावरणकर्मका विनाश अवश्य ही हो जाता है, अतएव सम्यक्त्वके साथ ज्ञानचेतनाकी लब्धिकी समव्याप्ति है और सम्यक्त्वके न होनेपर ज्ञानचेतना-वरण कर्मका क्षयोपशम भी नहीं होता अर्थात् उदय ही रहता । इससे भी सिद्ध है कि सम्य-क्त्वके साथ ज्ञानचेतनाकी समव्याप्ति है । स्पष्ट अर्थ यह है कि स्वानुभूतिकी लब्धि न हो तो स्वानुभूतिका उपयोग नहीं हो सकता, किन्तु स्वानुभूतिकी लब्धि होने के बाद जो उपयोग भी न रहे तो भी लब्धि तो है ही । उसके अभावका नियम न बनेगा, यही कारण है कि स्वानुभूतिकी लब्धि और स्वानुभूतिका । उपयोग इन दोनोंमें विसमव्याप्ति है । इस प्रकरण से यह सिद्ध हो जाता है कि सम्यग्दृष्टि जीवके अन्य क्षायोपशमिक ज्ञानकोंका विषय बदलता । रहता है । अर्थसे अर्थान्तरका संक्रमण हो जाता है, लेकिन ज्ञानचेतनाका विषय नहीं बदलता

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

गले हो उसका उपयोग चाहे न हो यह स्थिति आ जाय, लेकिन लब्धिमें भी ज्ञानचेतनाका विषय स्वात्मा है और उपयोगमें भी ज्ञानचेतनाका विषय स्वात्मा है।

नूनं कर्मफले सद्यश्चेतना वाऽथ कर्मणि।
स्यात् सर्वतः प्रमाणाद्वै प्रत्यक्षं बलवद्यतः ॥८५८॥

ज्ञानचेतना होनेपर सम्यग्दृष्टिके रागद्वेषकी संभवताके कारणका प्रकाश—सम्यग्दृष्टि जीवके ज्ञानचेतना तो निरन्तर है ही, पर साथ ही कर्मचेतना और कर्मफलचेतना भी है। इस कारणसे जिसके कर्मचेतना और कर्मफलचेतना है उसका जघन्य पद बताया गया है, और उस जघन्य पदका कारण है चारित्रमोहका उदय। एक यह प्रश्न जब सामने आता है कि सम्यग्दृष्टि जीवको जब सम्यक्त्व हो गया है तब फिर विषयोंमें राग और कषायोंकी उत्पत्ति क्यों होती है ? इसका समाधान इस श्लोकमें मिल रहा है। चूंकि सम्यक्त्व होने पर भी जब तक उसका जघन्य पद है, चारित्रमोहका उदय चल रहा है तब तक उसके उस अंश में कर्मचेतना और कर्मफलचेतना भी होती है। यह बात यहां कही जा रही है। इसका कारण यह है कि उसको सदा उपयोगमयी ज्ञानचेतना नहीं रहती। वहाँ भी निरखा जाय तो जब ज्ञानचेतना उपयोगात्मक जिस सम्यग्दृष्टिके सदा नहीं रह सकती तो कहना होगा कि उसके अन्य प्रकारका उपयोग रह जाता है तो वह अन्य प्रकारका उपयोग क्या है ? यह ही परपदार्थविषयक और वहां कुछ अंशोंमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि है, रागद्वेष है तो वहां कर्मचेतना और कर्मफलचेतनाका भी प्रसंग है। जैसे अविरत सम्यग्दृष्टिके नाना प्रकारकी सम्भावना है और इसी कारण ज्ञानचेतनाकी लब्धि और उपयोगमें समव्याप्ति दोष है कि अविरत सम्यग्दृष्टि जीवके जैसे ज्ञानचेतना सदा रहती है वैसे ही उपयोगमयी ज्ञानचेतना भी सदा रहे, ऐसा नहीं है। इसी प्रकार यहां भी यह जानना कि सम्यक्त्व और ज्ञानचेतना के साथ भी समव्याप्ति नहीं है याने लब्धिरूप ज्ञानचेतना तो सम्यक्त्वके साथ सदा है। किन्तु सम्यक्त्वके साथ उपयोगमयी ज्ञानचेतना रहनेका नियम नहीं है। यहां तक यह वर्णन हुआ कि सम्यग्दृष्टि जीवके अन्य क्षायोपशमिक ज्ञानोंमें तो अर्थान्तर संक्रमण है, पर ज्ञान चेतनामें अर्थान्तर संक्रमण नहीं है। ज्ञानचेतनाका विषय एक स्वात्मा ही है। इस वर्णनके बाद अब एक समस्या विचारके लिए रह जाती है कि योग संक्रान्ति रूप विकल्प जिस छद्मस्थ के ज्ञानमें रहता है और इस कारणसे उस ज्ञानको सविकल्प कहा जाता है उसी प्रकार ज्ञानचेतनामें चाहे लब्धिरूप हो या उपयोगरूप हो उसमें सविकल्पपना रहता है या नहीं ? इस विषयमें विचार करते हैं।

सिद्धमेतावतोक्तेन लब्धिर्या प्रोक्तलक्षणा।
निरुपयोगरूपत्वान्निर्विकल्पा स्वतोऽस्ति सा ॥८५९॥

Report any errors at vikasnd@gmail.com

 http://www.jainkosh.org

ज्ञानचेतनाकी निर्विकल्पता—उक्त कथनसे यह सिद्ध होता है कि लब्धि जिसका कि लक्षण है, बताया ही गया है वह स्वत: उपयोगरूप नहीं है, इसलिए सविकल्प है। प्रश्न यह हो रहा था कि जिस सम्यग्दृष्टि जीवके अन्य क्षायोपशमिक ज्ञान सविकल्प है और उनमें योग-संक्रान्ति होती है, ऐसी सविकल्पता ज्ञानचेतनामें भी है। समाधानमें यह कहा जा रहा है कि ज्ञानचेतना चूंकि लब्धिरूप है और उसका प्रधानसे वर्णन हो रहा है तो उसमें उपयोगरूपता की बात ही नहीं है। हो तो हो, न हो तो मत हो। तो स्वतः उपयोग रूप न होनेसे ज्ञान-चेतना निर्विकल्प है। छद्मस्थ जीवोंके उपयोग हो ज्ञानमें योगसंक्रान्ति होनेके कारण विकल्प होता है, पर लब्ध्यात्मकमें नहीं। ऐसी बात क्षायोपशमिक ज्ञानकी लब्धिमें भी घटाई जा सकती है याने समस्त लब्धियोंमें निर्विकल्पता है, पर उपयोगरूप बनता है तो उसमें विकल्प होता है, पर यहाँ ज्ञानचेतनाकी लब्धिमें चूंकि लब्धिरूप है, इसलिए सविकल्प ज्ञान नहीं कहा जा सकता। ज्ञानचेतना निर्विकल्प है उसे क्षायोपशमिक ज्ञानकी तरह संक्रान्तिरूप नहीं कह सकते। और जब ज्ञानचेतना अनुभवरूप होता है तो अनुभवके सम्बंधमें तो एक स्वात्मा ही विषय होता है, इसलिए वहाँ भी अर्थसे अर्थान्तरका संक्रमण नहीं कहा जा सकता। इस तरह यह बात भली-भाँति सिद्ध हो गई कि सम्यग्दृष्टि जीवके अन्य ज्ञानोंमें अर्थान्तर संक्रमण तो होता, लेकिन ज्ञानचेतनामें अर्थान्तर संक्रमणकी सम्भावना नहीं है। जब लब्धिरूपसे देखा तो निर्विकल्प है, संक्रमणरहित है, यह बात तो स्पष्ट सिद्ध है। तो सभी लब्धियाँ इस प्रकार की होती हैं और जब उपयोगरूपसे देखा तो ज्ञानचेतनाका जब उपयोग हो रहा हो उस समय भी स्वात्माको छोड़कर अन्य विषय नहीं है, इस कारण वहाँ भी अर्थान्तरसंक्रमण नहीं कहा जा सकता।

शुद्धस्यात्मोपयोगो यः स्वयं स्यात् ज्ञानचेतना।
निर्विकल्पः स एवार्थादसंक्रान्तत्वसंगतेः ॥८६०॥

लब्धि व उपयोग दोनों अपेक्षाओंसे ज्ञानचेतनाकी निर्विकल्पता—उक्त समाधानका सारांश यह है कि ज्ञानचेतना स्वयं शुद्ध स्वकीय आत्माका उपयोग है। वह संक्रान्तिकी संगति से रहित है, उसमें संक्रान्ति नहीं होती अर्थात् ज्ञानचेतनाका विषय तो आत्मा है, अन्य कुछ विषय तो है नहीं, इस कारण ज्ञानचेतनामें संक्रमण नहीं कहा गया है, और जितनी देर ज्ञानचेतना उपयोगमयी भी हो उस वक्त भी वह उपयोग निर्विकल्प ही है अर्थात् उसका विषय आत्मा है। सहज ज्ञानस्वरूपका अनुभव हो तो उपयोगमयी ज्ञानचेतनाका विषय है, अन्य कुछ विषय है ही नहीं। अगर अन्य कुछ विषय ज्ञानमें बन जाता है तो उपयोगमयी ज्ञान-चेतना नहीं रहती है। तो जितने समय उपयोगमयी ज्ञानचेतना है उतने समय तो यह ज्ञान-चेतना निर्विकल्प ही है। लब्धिरूप ज्ञानचेतनाकी दृष्टिसे देखें तो भी निर्विकल्प है और उप-योगमयी चेतनाकी दृष्टिसे देखें तो भी यह ज्ञानचेतना निर्विकल्प है।

Version 1

अस्ति प्रश्नावकाशस्य लेशमात्रोऽत्र केवलम् ।
यत्किञ्चित् बहिरर्थे स्यादुपयोगोऽन्यत्रात्मनः ।।८६१।।

ज्ञानचेतनाकी निर्विकल्पताका प्रकरण सुनकर कोई यहाँ यह प्रश्न कर सकता है और प्रसंग ही ऐसा है कि उसे कुछ प्रश्न करनेका अवकाश भी मिल जाता है कि बतलाइये कि आत्माके सिवाय बाह्य अर्थमें कोई उपयोग होता है या नहीं सम्यग्दृष्टि जीवके ? उक्त प्रकरण में भिन्न-भिन्न अपेक्षाओंसे ज्ञानचेतनाको निर्विकल्प सिद्ध किया है । ज्ञानचेतना अविरत सम्यक्त्व गुणस्थानसे हो जाती है, पर उस जीवके सदा उपयोगमयी ज्ञानचेतना कैसे सम्भव है ? तो अविरत सम्यग्दृष्टि जीवके लब्धिरूप ज्ञानचेतना निरन्तर है और वह निर्विकल्प है । तथा जिस सपय उपयोगरूप ज्ञानचेतना हो रही है उस समय भी ज्ञानचेतना निर्विकल्प है । इस प्रकरणको सुनकर प्रश्नके लिए यहाँ इतना अवसर मिल जाता है कि जब वह अविरत सम्यग्दृष्टि चौथे आदि गुणस्थानोंमें है तो वह तो जघन्य पद है । क्या जघन्य पदमें स्थित आत्माका आत्माके सिवाय अन्य अर्थोंमें उपयोग होता है या नही ? शंकाकारके अभिप्रायमें यह है कि ऐसा तो देखा नहीं गया कि जघन्य पदमें सम्यग्दृष्टिका केवल आत्मापर ही उपयोग रहता हो । और बाहरमें उपयोग गया तो यहाँ संक्रमण आगे आ जाता है कि अर्थसे अर्थान्तरका संक्रमण हो गया, ऐसा कुछ मनमें भाव रखकर प्रश्नकार यहाँ प्रश्न कर रहा है कि बतलावो सम्यग्दृष्टि जीवके जब तक वह जघन्य पदमें है तब तक उसका बाह्य अर्थमें उपयोग जाता है या नहीं ?

अस्ति ज्ञानोपयोगस्य स्वभावमहिमोदयः ।
आत्मपरोभयाकारभासकश्च प्रदीपवत् ।।८६२।।

उक्त शंकाके समाधानके प्रारम्भमें ज्ञानोपयोगके स्वपरावभासवत्वका प्रतिपादन— उक्त शङ्काके उत्तरमें कहा जा रहा है कि ज्ञानोपयोगके स्वभावकी ऐसी महिमा है कि वह ज्ञानोपयोग प्रदीपकी तरह अपने और परका तथा दोनोंके आकारका एक सत्य प्रकाश करने वाला होता है । प्रश्नमें यह पूछा गया था कि सम्यग्दृष्टिका ज्ञानोपयोग आत्माको छोड़कर अन्य पदार्थका भी विषय करता है या नहीं ? उसके समाधानमें यह कहा जा रहा है कि हाँ हां अन्य पदार्थको भी सम्यग्दृष्टिका ज्ञान विषय करता है । क्या किया जाय ? ज्ञानका स्वभाव ही ऐसा है और स्व और परपदार्थको विदय कर लेनेसे कोई दोषकी भी बात नहीं होती । ज्ञानोपयोगका स्वरूप ही ऐसा कुछ है कि वह केवल न तो स्वका ही प्रकाश करने वाला है और न परका ही प्रकाश करने वाला है, किन्तु दोनोंका प्रकाश करता है याने सम्यग्दृष्टिका ज्ञान भी अपनेको जानता है और पदार्थोंको भी जानता है । इस कारण सम्यग्दृष्टिका कभी-कभी बाह्य पदार्थोंमें उपयोग तो जाता है, लेकिन उस समय भी उसे अपने आत्माको भी

प्रतीति रहती है। यही कारण है कि बाह्य पदार्थको जानते हुए भी सम्यग्दृष्टिकी बाह्य पदार्थों में आसक्ति नहीं होती है। सम्यग्दृष्टि जीवके चूँकि सम्यक्त्व प्रकट हुआ है, अतएव उसके ज्ञानमें समीचीनता उत्पन्न हुई है, सो ज्ञान सम्यक् है, श्रद्धा सम्यक् है, फिर भी जब तक सम्यग्दृष्टि जीव जघन्य पदमें स्थित रहता है अर्थात् वीतराग अवस्थाको प्राप्त नहीं कर पाता है तब तक चारित्रमोहके कारण बाह्य पदार्थोंमें रागद्वेष मोह होता है, तो होता है रागद्वेष, किन्तु अनन्तानुबंधी और मिथ्यात्वका वहाँ अभाव है, अतएव मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषाय विपरीत सम्यग्दृष्टिके नहीं रहती है। भले ही वह अभी कुछ समय तक संसार-अवस्था में है, लेकिन उसके भ्रम नहीं रहा है। सम्यक्त्व होनेके कारण, पदार्थके स्वरूप पदार्थके कारण और पदार्थोंके भेद आदिकका यथार्थ बोध रहा करता है। इसी कारण ज्ञानमें उस प्रकारकी विशुद्धता रहा करती है और उस जीवके न तो स्व पदार्थके सम्बंधमें विपरीत बुद्धि होती है और न परपदार्थके सम्बंधमें विपरीत बुद्धि होती है। भले ही कभी कोई सम्यग्दृष्टि सीपको चाँदी समझ रहा हो तो वह लौकिक ज्ञानकी दिशामें तो विपरीतपना है। तो इस ज्ञानीने यद्यपि सीपको चाँदी जाना है, पर जाननेमें जो पदार्थ आया वह सामान्यतया जान ही तो रहा है कि यह पुद्गल है और यह परमाणुओंसे रचा हुआ है। परमाणु अपनी स्वतंत्र-स्वतंत्र सत्ता रखता है, फिर भी यह एक संघात अवस्था है। स्वरूपके सम्बंधमें विपरीत बुद्धि नहीं है। तो बाह्य विषयमें भी वह यथार्थ ज्ञानी है और जघन्य पदमें रहकर भी अपने आत्माकी प्रतीतिसे च्युत नहीं होता, इसलिए अन्तः सावधानी है।

निर्विशेषाद्यथाऽऽत्मानमिव ज्ञेयमवैति च।
तथा मूर्तानमूर्तांश्च धर्मादीनवगच्छति ॥८६३॥

आत्मज्ञानमें ज्ञानकी स्वपरप्रकाशकताकी तरह अन्य पदार्थोंके ज्ञानमें भी ज्ञानकी स्व-परप्रकाशकता—उक्त समाधानका सारांश यह है कि जैसे वह ज्ञान सामान्य रीतिसे याने किसी प्रकारका भेद न करके अपनेको जानता है उसी तरह अन्य ज्ञेय पदार्थोंको भी जानता है और मूर्त पदार्थ, अमूर्त पदार्थ सभी द्रव्योंको वह जानता है। जिस समय आत्मा अपने आपके स्व-रूपपर उपयोग करता है उस समय तो वह आत्मज्ञान कहलाता है। तो आत्मज्ञान भी तो ज्ञान ही है और वही विषयभूत निज आत्माकी दृष्टिसे ज्ञेय हो गया है। तो आत्मा ही ज्ञानी है और आत्मा ही ज्ञेय बना। इसी प्रकार जब वह मूर्त अमूर्त अन्य पदार्थोंको जानता है तब ही वह एक ही साथ स्व और परको भी जानता है, याने ज्ञान स्वपर प्रकाशक है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा जा रहा है कि जिस समय आत्मा अपने आत्माको जानता है तो ज्ञान भी हुआ और आत्मा जाना गया तो वह ज्ञेय भी हुआ याने आत्मज्ञानके सम्बंधमें भी ज्ञानज्ञेय भाव है और उसी सीमामें स्वपरप्रकाशक स्वभाव भी बना है। इसी तरह जब वह

http://sahjanandvarnishastra.org/

मूर्त अमूर्त पदार्थोंको जानता है तब भी स्व और परको एक साथ जानता है। इस समाधानमें एक ध्वनि यह भी निकलती है कि निश्चयसे आत्मा तो आत्माको ही जानता है और व्यवहारसे विषयभूत पदार्थको जानता है। तो जब निश्चयसे आत्मा आत्माका जाननहार है तो जब परम शुद्ध आत्मा अपने शुद्ध केवलज्ञानके द्वारा अपने आत्माको सम्पूर्णतया जानता है उस समय उसके स्वका भी पूर्ण ज्ञान है याने ज्ञानका भी पूर्ण ज्ञान है और परका भी पूर्ण ज्ञान है तो ज्ञानके विषयभूत शुद्ध आत्मतत्त्वका भी ज्ञान है। और भी समझियेगा कि जब आत्मा निर्विकल्प रूपसे सहज ज्ञायकभावका अनुभव कर रहा है उस समयमें भी विषयभूत तो सहज अन्तस्तत्त्व है और उसका ज्ञान चल रहा है वह ज्ञान स्वको भी जान रहा, मायने ज्ञानको भी समझ रहा और उस ज्ञानके विषयभूत शुद्ध अंतस्तत्त्वको भी समझ रहा है। तो देखिये—स्वपरप्रकाशकताकी पद्धति किसी भी स्थितिमें न मिट सकी। तो जैसे आत्मा आत्माको जाननेके सम्बंधमें जो ज्ञान हो रहा उसका वह ज्ञान स्वपरप्रकाशक है याने ज्ञान स्वको याने ज्ञानको भी समझ रहा और अपने विषयभूत अंतस्तत्त्वको भी समझ रहा, ऐसी ही स्वपर प्रकाशक पद्धति सर्वत्र है। जब वह बाह्य पदार्थोंको जान रहा है तो जो ज्ञान हो रहा है वह अपने आपको भी जान रहा है और विषयभूत पदार्थको भी जान रहा है। यहाँ स्वका अर्थ लगाना है ज्ञान और परका अर्थ लगाना है विषयभूत पदार्थ। इस तरह ज्ञान सर्वत्र स्वपर प्रकाशक है। तो ज्ञानमें ऐसा स्वपरप्रकाशकपनेका स्वभाव पड़ा हुआ है कि वह अपने इस निर्मल प्रतिभास करने वाली शक्तिसे सम्पूर्ण द्रव्यको भी वह जानता रहता है। और जो शुद्ध ज्ञानोपयोग है, प्रभुका केवलज्ञान है उसमें तो ऐसी ही अचिन्त्य शक्ति है कि वह एक साथ स्वका प्रतिभासक होता है और जब शुद्ध ज्ञानके उपयोगमें हो वहाँ भी ऐसा अचिन्त्य माहात्म्य है कि वह स्वके विषयमें उपयुक्त होता हुआ भी स्वतत्त्व अन्य सब पदार्थोंका यथार्थ जाननहार होता है।

स्वस्मिन्नेवोपयुक्तो वा नोपयुक्तः स एव हि।
परस्मिन्नुपयुक्तो वा नोपयुक्तः स एव हि ॥८६४॥
स्वस्तिनवोपयुक्तोऽपि मोत्कर्षाय स वस्तुतः।
उपयुक्तः परत्रापि नोपकर्षाय तत्त्वत: ॥८६५॥

ज्ञानकी स्वपरप्रकाशकताका पोषण—जो निज आत्मामें उपयुक्त है उसे ही उपयुक्त कहा जाय, ऐसी बात तो नहीं है। याने उपयोगका कोई यह अर्थ करे कि अपने आत्माको ही जानें, उसे ही कहेंगे उपयोगी, सो ऐसी बात नहीं है अथवा कोई बाह्य परपदार्थको जाने उसको कहेंगे उपयोगी, ऐसी भी बात नहीं है। किन्तु दोनों ही विषयोंको विषय करने वाला ही यथार्थमें उपयोग करने वाला होता है। उपयोगका स्वभाव ही ऐसा है कि वह स्वपरप्रका-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

शक होता है याने ज्ञान स्वयं ज्ञानको भी जानता है और परको भी जानता है। एक मोटा दृष्टान्त लीजिए। जैसे किसी पुरुषने जाना कि यह चौकी है। खूब निश्चयसे भली प्रकार यही जान रहा है कि यह चौकी है। अब इस प्रकारके ज्ञानमें दोनों ही बातें समाविष्ट हैं, याने ज्ञानमें यह भी समझ रहती है कि यह मैं ज्ञान बन रहा हूं कि यह ज्ञान हो रहा है कि वह सही है और वहाँ यह भी विकल्प है कि जो चौकी जान रहा है वह वास्तवमें चौकी ही तो है याने निर्णय दोनों जगह पड़ा हुआ है। ज्ञान भी सही है और वह पदार्थ भी ऐसा ही है, इसीको ही तो कहते हैं स्वपरप्रकाशकता। तो ऐसी स्वपरप्रकाशनकी कला उपयोगमें स्वभावतः ही पड़ी हुई है।

मोह कषायके प्रक्षयसे ही कृतार्थता—इस प्रसंगमें जो मूल प्रश्न चल रहा था उसके समाधानमें यह भी समझ लेना चाहिए कि बंधका कारण अज्ञान नहीं होता याने ज्ञान कम हो किसीके उससे बन्ध नहीं हुआ करता और किसीके स्वका ज्ञान हो रहा है उससे कहीं उत्कर्ष नहीं हो जाता अथवा परका ज्ञान होनेसे पतन नहीं हो जाता, किन्तु मिथ्यात्व और कषायका उदय हो, मिथ्यात्वभाव और कषायभाव हो तो वह बन्धका निमित्त है, और यदि मिथ्यात्व कषायभाव न रहा तो वह मोक्षका निमित्त है। तब ऐसा निर्णय रखना चाहिए कि कोई जीव स्व आत्माका उपयोगी हो, इससे वह कृतार्थ नहीं कहलाता या कोई जीव परपदार्थका उपयोगी हो इससे भी कृतार्थ नहीं कहलाता। किन्तु कृतार्थता प्रकट होती है मोह और कषायभावके नाश होनेसे। जब मिथ्यात्व अनन्तानुबंधी आदिक कषायें उपशम, क्षय, क्षयोपशमको प्राप्त होती हैं उसके अनुसार कर्मनिर्जरा होती है और जितने अंशोंमें कषायभाव रह गया हो उतने अंशोंमें आस्रव भी होता रहता है। अब उस जीवका उपयोग चाहे स्वात्मामें हो, चाहे परपदार्थमें हो, उस विषयके कारण वहाँ कृतार्थताका कोई सम्बंध नहीं है। कृतार्थता प्रकट तो होती है मोह रागद्वेषके क्षय हो जानेसे। तो प्रश्नकारका यह प्रश्न था कि सम्यग्दृष्टि जीव क्या निज आत्माका ही उपयोगी रहता है या परपदार्थका भी उपयोग करता है? उसके समाधानमें यह बात बतायी गई है कि हाँ परका भी उपयोग करता है, लेकिन इससे प्रश्नकार कोई दुरुपयोग न कर सकेगा। भले ही सम्यग्दृष्टि परका उपयोग करे, लेकिन उस उपयोगके कारण बंध नहीं है। बन्ध होता है मोह रागद्वेषसे। केवल स्वविषयका उपयोग करे कोई या परविषयका ही उपयोग करे कोई तो उसे कृतार्थ या पतित न कहेंगे? किन्तु स्व और पर विषयको जो उपयोग कर रहा उस आत्माको स्वपरप्रकाशक आत्माको उपयोगी कहेंगे। उपयोगका स्वरूप ही ऐसा है। वहाँ यह सम्भव ही नहीं है कि ज्ञान केवल ज्ञानको विषय कर रहा हो, स्व या पर याने आत्मा व अनात्मा कोई भी पदार्थ विषयमें न आ रहा हो, यह कैसे हो सकता है? यह तो साधारण वृत्त है। अब ज्ञानचेतनाकी बात

http://sahjanandvarnishastra.org/

देखिये। ज्ञानचेतना लब्धिरूप व उपयोगरूप होती है। लब्धिरूप ज्ञानचेतना सम्यग्दृष्टिके सदैव रहती है। उपयोगरूप ज्ञानचेतना सहज अंतस्तत्त्वके उपयोगके समय होती है। जब स्वोपयुक्त ज्ञानचेतना नहीं है तब परोपयुक्त उपयोग है। तो यहाँ यह निर्णय रखना कि वह सम्यग्दृष्टि आत्मा ज्ञानचेतनाके कारण जैसा निर्बन्ध है वैसा ही निर्बन्ध है। कहीं वह स्वोपयुक्त हो जाय तो वह उत्कर्षके लिये हो, गुणके लिये हो व कभी परोपयुक्त हो तो वह अपकर्षके लिये हो, दोषके लिये हो, ऐसा नहीं है। इस प्रसङ्गमें उत्कर्ष अपकर्षका अथवा दोष गुणका क्या भाव है ? ग्रन्थकार स्वयं ही आगे कुछ श्लोकोंमें बतावेंगे।

तस्मात्स्वस्थितयेऽन्यस्मादेकाकारचिकीर्षया।
मा सीदसि महाप्राज्ञ सार्थमर्थमवैहि भोः ॥८६६॥

ज्ञानचेतनाके सम्बंधमें स्फुट प्रकाश—यह प्रकरण ज्ञानचेतनाका चल रहा है। ज्ञानचेतनाका लक्षण प्रसिद्धतया यह है कि ज्ञानस्वरूपमें ही अपने आपके स्वरूपका चेतन होना ज्ञानचेतना है। यह ज्ञानचेतना लब्धिरूप है और उपयोगरूप है। लब्धिरूप ज्ञानचेतनाका अर्थ यह है कि ज्ञानचेतनावरणका, स्वानुभूत्यावरण कर्मका क्षयोपशम होना और उस क्षयोपशमसे प्राप्त हुई जो लब्धि योग्यता है वह है लब्धिरूप ज्ञानचेतना और स्वानुभूतिमें उपयुक्त भावनाके उपयोगमें ही रत जो उपयोगकी स्थिति है उसे कहते हैं उपयोगरूप ज्ञानचेतना। यहाँ लब्धिरूप ज्ञानचेतना तो सम्यग्दृष्टिके सदा रहती है और उपयोगरूप ज्ञानचेतना कभी होती है, कभी नहीं भी होती है, ऐसे प्रसंगमें यह भी एक समस्या सामने की गई थी कि जब उपयोग मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि, मनःपर्ययज्ञानरूप उपयोग जब संक्रमण करता ही रहता है, अर्थसे अर्थान्तरका बोध करता ही रहता है। तो ज्ञानचेतना भी तो मतिज्ञानका प्रकार है। मतिज्ञान जब संक्रमणात्मक है तो ज्ञानचेतना संक्रमणरूप होना चाहिए। वहाँ भी स्वसे बदलकर परक अर्थमें उपयोग जाना चाहिए। उसका समाधान यों दिया गया है कि ज्ञानचेतना जो वास्तविक है, जो सम्यग्दृष्टिके सदा रहती है, जिसके कारण सम्वर निर्जरा होती है वह ज्ञानचेतना संक्रमणरूप नहीं है। हाँ, उपयोगरूप ज्ञानचेतना हो तो वह भी ज्ञानचेतना जितने काल तक उपयुक्त रहती है उतने काल तक वहाँ भी संक्रमण नहीं है, ऐसी कुछ समस्यावोंकी चर्चाके बाद बात यह आयी, जिज्ञासा यह बनी कि जब उपयोग स्वमें लगा हुआ हो तो उसमें है आत्माका लाभ और जब उपयोग परपदार्थोंमें लगा हो तो उसमें आत्माकी हानि है। उस प्रश्नको लेकर अभी यह समाधान दिया गया था कि सम्यग्दृष्टि जीव चाहे अपने आपमें उपयुक्त हो, चाहे परमें उपयुक्त हो, उपयोगके स्थलसे कहीं उसका उत्कर्ष और अपकर्ष निश्चित न किया जा सकेगा।

उपयोगमें उत्कर्षसाधकता व अपकर्षकारता न होनेका संक्षिप्त विवरण—यहाँ दो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

बातोंपर ध्यान दीजिये। एक तो यह कि उपयोग (ज्ञानकी दशा) दोष और गुणको उत्पन्न करने वाली नहीं होती, किन्तु चारित्रकी दशा उत्कर्ष और अपकर्षके लिए होती है। रागद्वेष मोहसे तो उसमें जीवकी हानि है। रागद्वेष मोह न हो, शुद्धता हो तो जीवका उसमें लाभ है। केवल उपयोग हानि या लाभके लिए नहीं है। दूसरी बात यहाँ यह जाननी चाहिए कि हानि और लाभ शब्दसे या दोष, गुण इन शब्दोंसे या उत्कर्ष, अपकर्ष इन शब्दोंसे किस हानि-लाभ का मतलब लेना है, यह भी जानना चाहिए, यह बात स्वयं ग्रन्थकार आगेके श्लोकमें कहेंगे, जिसका अभिप्राय यह है कि हानिसे मतलब है सम्वर निर्जरा न होना आदि, लाभसे मतलब है सम्वर निर्जरा होना आदि। देखिये—जिस जीवके ज्ञानचेतना है, उसका उपयोग परमें लग रहा हो, तब भी सम्वर निर्जरा चल रही है और स्वमें लग रहा है तब भी ज्ञानचेतनाके कारण सम्वर निर्जरा चल रही है। उपयोगकी कोई वहाँ विशेषता या गुणकी बात नहीं आयी है। थोड़ा बहुत अन्तर तो हो जायगा। जब उपयोग अपने आपमें उपयुक्त है तो अन्तर होगा, मगर वह अन्तर सीमा तोड़ अन्तर नहीं होता, क्योंकि उस जीवके जैसा कषाय संस्कार मौजूद है अप्रत्याख्यानावरण हो, प्रत्याख्यानावरण हो उन वासनाओंके कारण उसमें यह अन्तर नहीं आता कि जब सम्यग्दृष्टि चतुर्थ, पंचम, छठवाँ, ७वाँ गुणस्थान वाला कोई स्वमें उपयुक्त हो तो वह श्रेणीमें रहने वाले साधुजनोंकी तरह या क्षीणमोह साधुजनोंकी तरह लाभ पा रहा हो तो इन बातोंके कथनके बाद यहाँ सारांशरूपमें कह रहे हैं कि हे भाई जब यह बात है कि जैसी योग्यता है, पात्रता है, लब्धि मिली है, अंतः उपयोग है उसके अनुसार जब समस्त बात चलती है तो अपने स्वरूपमें स्थित रहनेके लिए दूसरे पदार्थोंसे हटकर आत्माको स्वरूपस्थ करनेकी वाञ्छासे तू खेद मत कर। यद्यपि यह भला है कि परपदार्थसे हटकर हम स्वमें उपयुक्त रहें और ध्यानमें प्रयत्न भी यही किया जाता है, किन्तु यहाँ यह बात बतायी गई है कि तत्त्वज्ञानके बलसे जो पौरुष बनेगा, आत्मविशुद्धि बनेगी वह आत्मविशुद्धि तेरे लिए काम कर ही रही है। अब उसकी प्रतीतिसे तो हट जायें कोई और अपने स्वरूपमें स्थित रहनेके लिए यह घबड़ाहट लाये कि परपदार्थमें उपयोग क्यों जाय? अरे विशुद्ध होकर सहज जैसा जहाँ उपयोग जाता हो, जाय, मगर भीतरी विशुद्धि तो कषायोंके अभावसे होती है। कहीं बाह्य पदार्थसे उपयोग हटकर स्वमें उपयुक्त हो जाय, उससे कहीं विशुद्धि बढ़ जाती हो, ऐसा नियम नहीं है। जैसे प्रकट ही है—चतुर्थगुणस्थानमें जो विशुद्धि हो, कोई स्वानुभवमें लगा हो उसके भी जो विशुद्धि है उससे अधिक विशुद्धि परका भी उपयोग कर रहा हो, ऐसे ५वें, छठे, ७वें गुणस्थानमें है तो यहाँ तत्त्वबोधकी बात करायी जा रही है। जब बोधिके लिए कहा जाय तो पौरुष तो यही ठीक है, मगर तत्त्वज्ञानका अभाव होनेसे जो एक ऐसा बड़ा खेद पैदा किया

जाता है कि क्यों नहीं यहाँ उपयोग रमता है ? क्यों नहीं बाहरसे उपयोग हटता है ? कहते हैं कि अज्ञानमें रहकर ऐसा खेद मत करो। पौरुषकी बात अलग है, पर यहाँ अज्ञानकी दिशा जागृत हो जाती है।

लब्धिरूप ज्ञानचेतनाका महत्त्व जाननेपर प्रकृत जिज्ञासाका समाधान—शंकाकार केवल अपने आत्मामें उपयोग रमानेको ही ज्ञानचेतना समझता था, तिसपर ही ये सब प्रश्नोत्तर हो रहे हैं। तो उसके चित्तमें यह था कि जब आत्मा स्वमें उपयुक्त न हो, वह परपदार्थ को जानता हो तो उसके ज्ञानचेतना नहीं है। ऐसी स्थितिमें ही तो एक घबड़ाहट जैसी बात हुई। ज्ञानचेतनाका न होना यह तो आत्माके लिए गाली है, क्योंकि इस ही में बरबादी है। तो वह समझता था कि परपदार्थमें उपयोग जाय तो वहाँ ज्ञानचेतना नहीं है। उसको सम्वेदन करके कहा जा रहा है। अरे ज्ञानचेतना जिसके है उसके सतत है, तू इस तरहकी घबड़ाहट मत कर कि लो परमें उपयोग गया कि ज्ञानचेतना नहीं रहती। ज्ञानोपयोग तो अपनी ऐसी स्वाभाविक लीला ही करता रहता है। वह स्वको भी जानता और परको भी जानता। देखिये—उपयोग स्वपरप्रकाशक है। ज्ञानको स्वपरव्यवसायी कहा है। इसका भाव तो यह है कि जो ज्ञान हो रहा वह स्वको भी जानता, परको भी जानता, मायने जो ज्ञान है वह स्व है और जो ज्ञेय है वह पर है। उनकी ऐसी स्वपरव्यवसायिता तो उपयोगमें निरन्तर रहती है। कोई भी उपयोग ऐसा नहीं है कि वह स्वको ही जानता है, परको नहीं जानता, या परको जानता है, स्वको नहीं जानता। ज्ञानके लक्षणकी दृष्टिसे तो स्वपरव्यवसायित्व एक साथ है और सब जीवोंके निरन्तर है, चाहे वह कोई भी प्राणी हो, लेकिन यहाँ ज्ञेयकी भाँतिसे याने परमें ही स्व और परका विभाग लगाकर प्रश्न किया जा रहा है। जिस समय ज्ञानी पुरुष अपने आत्माको जान रहा है उस समय ज्ञानके लक्षणकी दृष्टिसे आत्मा तो है पर और आत्माका जो ज्ञान हो रहा है वह है स्व। तो वह ज्ञान जाननको भी जान रहा है और जाननेमें जो आत्मतत्त्व आया है उसे भी जान रहा है याने ज्ञेय कहलाता है, पर और ज्ञान कहलाता है स्व। यह तो ज्ञानके लक्षणकी बात है, और जहाँ विषयकी बात है सो ज्ञानमें आत्मा ज्ञेय हुआ उसे कहेंगे स्वोपयोगी। और ज्ञानमें आत्मातिरिक्त अन्य पदार्थ ज्ञेय हो तो उसे कहेंगे परोपयोगी। तो दूसरे स्व परकी यह चर्चा है, ज्ञानके लक्षणभूत स्वकी चर्चा नहीं है। तो जब यह आत्मा परको जान रहा है तो शंकाकार यह समझता है कि ज्ञानचेतना न रही, स्वोपयोग न रहा तो निर्जरा आदिक सब बातें मिट जायेंगी। जब यह आत्मा स्वको जानता है तो शंकाकार यह समझता है कि हमने अब स्वको जाना, सम्वर निर्जरा आदिक समस्त गुण आ गए। उस शंकाके निवारणके लिए यह कहा जा रहा कि यह स्वात्माका उपयोग न गुणका उत्पादक है

और न दोषका उत्पादक है। ज्ञानका स्वभाव ही ऐसा है कि वह स्वको जाने, परको जाने, सबको जाने। गुण और दोषका निर्माण जो है वह सम्यक्त्व चारित्रके सद्भाव और अभाव में है।

चर्यया पर्यटन्नेव ज्ञानमर्थेषु लीलया।
न दोषाय गुणायाऽथ नित्यं प्रत्यर्थमर्थसात् ॥८६७॥

ज्ञानकी लीलामें स्वपरप्रकाशकता—ज्ञानके स्वभावका यहाँ चित्रण किया गया है। ज्ञान सम्पूर्ण पदार्थोंमें लीला मात्रमें भूमता फिरता है, इसका अंदाज यहीं कर लीजिए। जो लोग कहते हैं कि मेरा मन बड़ा चंचल है, क्षणमें यहाँ क्षणमें वहाँ भूमता रहता है तो वह मन क्या है ? भावमन। भावमन क्या है ? ज्ञानकी एक दशा। उससे ही निर्णय कर लीजिए कि ज्ञान लीला मात्रमें कैसे भूमता रहता है ? यह बात तो है उनकी जिनके ज्ञानमें बोझ लदा है और जिनके ज्ञानमें बोझ नहीं लदा, रागद्वेषका सम्पर्क नहीं है, एकदम स्वतंत्र ज्ञान हो गया है उस ज्ञानकी लीला तो उससे भी और अधिक तेज है। वह तो तीन लोक तीन कालके पदार्थोंको प्रतिक्षण जानता रहता है। तो यों सर्व पदार्थोंमें इसका प्रवेश होता रहता है। ज्ञानका यह स्वभाव है कि वह सम्पूर्ण पदार्थोंमें लीला मात्रसे भूमता फिरता है, अतएव यह ज्ञान किसी भी पदार्थको जान रहा हो वह न तो दोष उत्पन्न करता और न गुण उत्पन्न करता, किन्तु ज्ञानका तो यह धर्म है कि प्रत्येक पदार्थको वह जान जाय। जरा ज्ञानस्वरूपपर दृष्टि कीजिये, यह विषय स्पष्ट समझमें आयगा। देखिये— हम लोगोंके ज्ञानके साथ लगे हुए हैं रागद्वेष। जब कभी कुछ विशेष धर्मपथमें आते हैं, कुछ जानकारी करते हैं तो हम इस ज्ञानके उपयोगपर जो परमें उपयोग लग रहा है, उसपर तो हम रोष करते हैं और जो दोषाधायक है ऐसे रागद्वेष विभावपर हम रोष नहीं करते, तो यह यों हुआ जैसे खोटे पुरुषकी संगतिसे सज्जनको ऐब लगाया और सज्जनपर चिढ़ गये, इसी तरह समझिये कि रागद्वेषकी संगति होनेसे तो ज्ञानपर चिढ़ हो रही है। क्यों यह परपदार्थमें भटक रहा है और रागद्वेषकी ओर आंख भी तिरछी नहीं करते ? इस प्रकरणमें जो दोष गुण की बात कही गई है, वह दोष क्या और गुण क्या ? उसका स्पष्टीकरण अब किया जा रहा है।

दोषः सम्यग्दृशो हानिः सर्वतोंशांसतोऽथवा।
संवराग्रेसरायाश्च निर्जरयाः क्षतिर्मनाक् ॥८६८॥
व्यस्तेनाथ समस्तेन तद्द्वयस्योपमूलनम्।
हानिर्वा पुण्यबन्धस्याहेयस्याप्यपकर्षणात् ॥८६९॥

Version 1

उत्पत्तिः पापबन्धस्य स्यादुत्कर्षोऽथवास्य च ।
तदुद्वयस्याथवा किञ्चिद्यावदुद्वेलनादिकम् ॥८७०॥

सम्यक्त्वक्षति, संवरक्षति व निर्जराक्षतिकी दोषरूपता—उक्त प्रकरणमें यह चर्चा की गई है कि उपयोग चाहे स्वात्मामें लगे तो उससे कहीं गुण नहीं बढ़ते, आत्मा चाहे परमें उपयुक्त हों, उससे कहीं दोष नहीं पैदा होता। तो वह दोष क्या है कि परपदार्थको जानकर भी दोष न आयें उन दोषोंकी चर्चा इन तीन श्लोकोंमें की गई है। सम्यक्त्वकी हानि हो जाना या सम्यक्त्वकी आंशिक क्षति हो जाना, यह दोष है। सम्यग्दृष्टि पुरुषका उपयोग किसी परपदार्थको विषय कर रहा हो, किसी परपदार्थको जान रहा हो तो क्या इस परोपयोगके कारण उसका सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है? अरे सम्यक्त्व नष्ट होनेके कारण और हैं। परोपयोगके कारण सम्यक्त्व नष्ट नहीं होता। तब यही कौनसा दोष उत्पन्न नहीं होता वही ये बताये जा रहे हैं। सम्यक्त्वकी बिल्कुल हानि हो जाना, नाश हो जाना अथवा सम्यक्त्वका एक देश हानि हो जाना, यह दोष है। यह दोष परोपयोगके कारण नहीं होता, किन्तु प्रकृतियोंका हो जाय सद्भाव तो सम्यक्त्वकी हानि हुई, सम्यक्त्वमें दोष हुआ, सम्यक्त्वकी क्षति हुई। तीसरा दोष वह रहे हैं कि संवरपूर्वक होने वाली निर्जरामें क्षति होना, साथ ही यह भी समझ लेना कि संवरकी क्षति हो, सम्वर मिट जाय और सम्वरपूर्वक होने वाली निर्जरा मिट जाय तो वह दोष है, पर सम्यग्दृष्टि पुरुषके परोपयोग भी हो तो उससे न संवर मिटता है, न निर्जरा। वह परोपयोग दोषाधायक नहीं होता। करणानुयोगमें बताया ही गया है कि सम्यग्दृष्टि जीवके ४१ प्रकृतियोंका संवर सम्यग्दृष्टिकी प्रत्येक स्थितिमें पाया जाता है। वह घर हो, दूकान हो, व्यापार करता हो, पूजा करता हो, खा रहा हो, पी रहा हो, कुछ स्थितियाँ हों, चूंकि मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी जब नहीं है तो उन दोनोंके कारण होने वाला आस्रव इसके कैसे हो सकता है? तो परोपयोग भी हो तब भी सम्वर और निर्जरामें क्षति नहीं होती। इस कारण यह कहना ठीक है कि परोपयोग दोषाधायक नहीं होता। ५वीं बात यह कह रहे हैं कि सम्वर और निर्जरा दोनों ही न रहें, ऐसी भी स्थिति नहीं है। सम्वर रहे निर्जरा मिट जाय, निर्जरा रहे संवर मिट जाय या दोनों न रहें, यह दोष है। यह दोष सम्यग्दृष्टिके नहीं है। निरन्तर सम्वर है, निरन्तर निर्जरा है, और जिस सम्यग्दृष्टि जीवके जैसी सम्वर निर्जरा नहीं है, उस सम्यग्दृष्टि जीवके स्वोपयोग भी हो, तो भी उसके वह सम्वर निर्जरा नहीं है, जैसी कि ऊँचे गुणस्थानमें जिनके सम्वर निर्जरा है। चौथे गुणस्थानमें स्वानुभूतिकी स्थितिमें भी वैसी सम्वर निर्जरा नहीं है।

अहेय पुण्यबन्धकी हानि और पापबन्धकी दोषरूपता—देखिये—यह तपश्चरण है कि अपने आपकी ओर लगना, स्वकी अनुभूतिमें लगना, परसे हटना एक आन्तरिक तपश्चरण है, करना चाहिए, पौरुषकी बात है, लेकिन यहाँ एक यथार्थता यह बतायी जा रही है कि

Report any errors at vikasnd@gmail.com

 http://www.jainkosh.org

जहाँ जितने रागद्वेषका प्रक्षय होता है वहाँ उसको उस प्रकारका अनुभवन है, उस प्रकारका वहाँ लाभ है। तो यह हमारी स्वानुभूति, यह हमारा आन्तरिक तपश्चरण उन रागद्वेषादिक भावोंके समूल क्षयका कारण है, इसलिए पौरुष करना चाहिए उनका, परन्तु यहाँ एक भेद-दृष्टिसे स्थिति बतायी जा रही है कि दोष और गुण उत्पन्न होते हैं सम्यक्त्व और चारित्र गुणोंकी अवस्थावोंके कारण। उपयोग तो उपयोगमात्र है, उसका काम मात्र जानना है। तब ही तो दर्शनशास्त्रमें जब एक जगह यह शङ्का की कि ज्ञानको स्वपरव्यवसायी कह रहे हो तो जिस समय संशय ज्ञान हो रहा, विपर्यय ज्ञान हो रहा वहाँपर भी ज्ञान क्या स्वपरव्यवसायी है ? तो ज्ञानकी साधारणताकी दृष्टिसे तो स्वपरव्यवसायिता जितने अंशमें है उतने अंशमें है, पर जो सामने पदार्थ मौजूद है उसके अनुसार यदि यह निर्णय नहीं बन रहा है तो वहाँ अप्रमाणताकी बात कही गई है अथवा साधारणतया सीपको चाँदी जाना तो जाना तो कुछ परको, इसलिए परका जानन चल रहा है। निर्णयकी बात नहीं कह रहे हैं, और स्वको भी जान रहा है जैसा कुछ भी है। तो ज्ञानमें ऐसी करामात है कि वह स्वका भी सम्वेदन करता है, हर स्थितियोंमें ज्ञानके ज्ञानत्व मात्रकी दृष्टिसे देखें तो उसमें एक लीला चल रही है। वहाँ दोष गुणकी बात नहीं कही जा सकती। अब और भी दोष बतला रहे हैं। दोष यह है कि अहेय पुण्यबन्धकी हानि होना। पुण्यबन्ध वहाँ हेय नहीं बन रहा अथवा व्यावहारिक दृष्टिसे देखो तो पुण्य कथञ्चित् उपादेय है। स्थितिकी दृष्टिसे देखें तो सम्यग्दृष्टिके पुण्य अहेय है। कहाँ छूटे ? उसे तो बँधना ही पड़ेगा। ऐसी अहेय पुण्यकी हानि होना, यह दोष है। जब सम्यक्त्व और चारित्र गुण विपरीत परिणमते हों, जहाँ भ्रम रागद्वेषका उदय चल रहा हो वहाँ ही तो पुण्यकी हानि होती है, यह दोष है। यह दोष परोपयोग होनेसे नहीं हो रहा है, किन्तु सम्यक्त्व व चारित्रकी क्षतिसे हो रहा है। ज्ञानी जीव परपदार्थको भी जान रहा हो तो चूंकि उसका आशय निर्मल है, इस कारण उसे पुण्यबन्धकी हानिका प्रसङ्ग नहीं आता। तो परोपयोग दोषाधायक न रहा, अथवा पुण्यबन्धका कम रह जाना, यह दोष है, ऐसा दोष भी परोपयोग नहीं कर पा रहा। हाँ, थोड़ा कम हो गया उसकी बात नहीं है, मगर सीमा तोड़ कभी हो जाय, ऐसी बात नहीं आ पाती। और भी देखिये दोष क्या है ? पापबन्धकी उत्पत्ति होना, पापका उत्कर्ष होना, पाप बँधे, पाप बढ़े, यह दोष है। सम्यग्दृष्टिके यह दोष नहीं है, इसलिए परोप्रयोग दोषका उत्पन्न करने वाला नहीं है अथवा ऐसा उद्वेलन हो जाय कि जिसमें पुण्यप्रकृति तो नष्ट हो और पापप्रकृतिका उत्कर्ष आये, ऐसा उद्वेलन होता है कुछ प्रकृतियोंमें कि उद्वेलन होकर अच्छी प्रकृति तो मिट गई और बुरी प्रकृति बन गई, यह भी एक दोष है। यह दोष भी सम्यग्दृष्टिके नहीं होता। अतः सिद्ध किया गया है कि परोपयोग दोषका उत्पन्न करने वाला नहीं है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सम्यग्ज्ञानमें निर्भयता व निरपराधता—भैया ! इस बातकी घबड़ाहट न करें कि मेरे ज्ञानचेतना न रही, अब कैसे परसे हटकर स्वमें लगूं ? कैसे अपने भावको सम्हालूं, और सही तत्त्वज्ञान करूँ ? वस्तुका जो यथार्थ स्वरूप है वैसा ही जानता रहूं। सम्यग्दृष्टि जीव कदाचित् रस्सीको सांप भी जान ले तो भी उसके मिथ्या ज्ञान नहीं बताया गया। लोकव्यवहार की दृष्टिके मिथ्या जान रहा है कि है तो रस्सी और समझ रहा है सांप, लेकिन भले ही सांप समझ रहा, मगर जो समझ रहा उसमें समझ तो यह बनी है कि ये दृश्यमान पौद्गलिक हैं, अनेक परमाणुवोंके पुञ्ज हैं और मेरे उपादान कारण वे ही परमाणु द्रव्य हैं आदिक जो कुछ भी वस्तुस्वरूपके बारेमें भेदाभेद, कारण, स्वरूप होता है उनके विषयमें वह उल्टा ज्ञान नहीं कर रहा, इस कारणसे उसे मिथ्या नहीं कहा और मिथ्यादृष्टि जीव रस्सीको रस्सी समझ रहा है, इसपर भी लोकदृष्टिमें तो उसे सच्चा ज्ञान है, मगर उसे यह पता नहीं है कि रस्सी क्या द्रव्य है, यह किस तरह बनती है ? यह माया है, पर्यायरूप है। द्रव्य और है आदिक नहीं समझता और अज्ञानके कारण इनमें वह इष्ट अनिष्ट बुद्धि करता, उन्हें अपनाता है। ये मेरे हैं आदिक अनेक ऐब उठते हैं, लेकिन उसका ऐसा ज्ञान भी सम्यक् नहीं हो सकता। सम्यग्ज्ञान वह है जो वास्तविक हितमें ले जाय और अहितसे दूर कर दे, ऐसा ज्ञान सम्यग्दृष्टिके जगा है। ज्ञानचेतना उत्पन्न हुई है जिसके कारण उस ज्ञानी पुरुषके स्वोपलब्धि हो तो, परोपलब्धि हो तो, उस ज्ञानचेतना सूर्यके उदित हो जानेके कारण उसके सम्वर और निर्जरा सदाकाल होती है।

गुणाः सम्यक्त्वसंभूतिरुत्कर्षो वा सतोंऽशकैः।
निर्जराऽभिनवा यद्वा संवरोऽभिनवो मनाक् ॥८७१॥
उत्कर्षो वाऽनयोरंशैर्द्वयोरन्यतरस्य वा।
श्रेयोबन्धोऽथवोत्कर्षो यद्वा नह्यपकर्षणम् ॥८७२॥

स्वोपयोग होनेपर उपयोगके कारण जिनका उत्कर्ष नहीं व परोपयोग होनेके कारण जिन गुणोंका अपकर्ष नहीं उन गुणोंका निर्देश—प्रकरण यह चल रहा था कि उपयोग चाहे आत्माकी ओर लगा हो अथवा परकी ओर लगा हो सम्यग्दृष्टि जीवके जो सम्वर निर्जरा होती है वह उसकी लब्धिरूप ज्ञानचेतनाके अथवा सम्यक्त्वके कारण होती है। उस उपयोगके आत्मा में लगनेसे कोई उत्कर्ष नहीं होता, उस जीवके और परकी ओर लगनेसे कोई अपकर्ष नहीं होता, तो अपकर्षका वर्णन तो कल हो चुका कि वह क्या अपकर्ष है, वह क्या दोष है जो परोपयोग होनेपर भी न हो। आज गुणका वर्णन चल रहा है। वह क्या गुण है जो रहता ही रहता है। स्वोपयोग होनेपर भी उन गुणोंमें स्वोपयोगके कारण वृद्धि नहीं है, किन्तु वह है ही और उनके होनेके कारण गुणोंकी हानि नहीं। उन गुणोंका वर्णन कर रहे हैं। गुण ये हैं—

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिका होना, सम्यग्दर्शनका उत्कर्ष होना, नवीन निर्जराका होना अथवा कुछ सम्वरका होना। यहाँ यह बात बतला रहे हैं कि परकी ओर उपयोग होनेपर कोई गुण नहीं बढ़ जाते तो वह क्या? एक तो यह कि सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाय, ऐसी बात नहीं है स्वोपयोग होनेपर। सम्यग्दर्शन तो उस जीवके है ही। अब उत्पन्न होनेकी क्या बात? गुणोंका वर्णन इस दृष्टिसे कर रहे हैं कि स्वकी ओर उपयोग हुआ तो कहीं उससे यह बात नहीं बनती कि सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाय। सम्यक्त्व तो था ही। उत्पत्तिकी क्या बात? अथवा सम्यग्दर्शनमें आंशिक वृद्धि हो जाय सो भी बात नहीं, वह तो लब्धि रूपसे जो है सो है ही। इसी तरह कोई नवीन निर्जरा हो जाय या नवीन सम्वर हो जाय सो भी बात नहीं। जो निर्जरा है सो है, जो सम्वर है सो है। स्वोपयोग होनेपर कोई नवीन निर्जरा और सम्वर नहीं होता अथवा सम्वर और निर्जरामें उत्कर्ष हो जाय, उसकी वृद्धि हो जाय, सो भी बात नहीं है। देखिये—जब असंख्यातगुणी निर्जरा कही गई है तो सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके समयकी बात है। सम्यक्त्व उत्पन्न हो जानेपर फिर वह रहता है उसमें यहाँ अथवा संयम आदिकमें रहे तो संयमके कालमें असंख्यातगुणी निर्जरा है, फिर रहती है तो यहाँ वह असंख्यातगुणी श्रेणीकी निर्जरा नहीं चलती है। तो स्वानुभवके कालमें हो तो वहाँ भी असंख्यातगुणी निर्जरा नहीं बनती, कोई नया गुण नहीं उत्पन्न हुआ और पुण्यबंधका होना, पुण्यका बढ़ावरी होना, पुण्यबंधमें हीनताका न होना यह भी गुण कहलाता है, सो इन गुणोंकी भी कोई वृद्धि नहीं है। इस प्रसंगमें ऐसा मानें कि मन्द कषाय विशेष हो जाती और निर्विकल्पताकी ओर होनेसे कुछ बात विशेष बन तो जाती है, मगर वह सब सीमाके अन्दर है। लब्धि जितनी पायी है उस लब्धिकी सीमाको तोड़कर नहीं हो सकती। इस तरह यहाँ बताया है कि स्वोपयोग होनेपर कोई उत्कर्ष नहीं होता, परोपयोग होनेपर कोई अपकर्ष नहीं होता, किन्तु लब्धिकी ज्ञानचेतना अथवा सम्यक्त्वके कारण जो गुण है सो है और जो दोष नहीं है सो नहीं है।

गुणदोष द्वयोरेवं नोपयोगोस्ति कारणम्।
हेतुर्नान्यतरस्यापि योगवाही च नाप्ययम् ॥८७३॥

गुण और दोषके लिये उपयोगकी कारणता, हेतुता व सहकारिताका अभाव—ऊपर अनेक श्लोकोंमें यह वर्णन चल रहा था, उसीका यहाँ निष्कर्षरूप कथन कर रहे हैं कि इस प्रकार ऊपर कहे हुए गुण और दोषोंमें कारण उपयोग नहीं होता और न वह उन दोनोंमें से किसीका हेतु होता और न उपयोग गुण दोषका सहकारी भी होता, तीन बातोंका यहाँ निषेध किया जा रहा है। उपयोग गुण दोषका कारण नहीं है। कारण कहते हैं उसे जिससे कार्य उत्पन्न हो। जैसे अग्निसे धूम उत्पन्न हुआ तो अग्नि धूमका कारण है। इस तरह गुण और दोष उपयोगसे उत्पन्न हों, ऐसी बात नहीं है। अतएव गुण दोषका कारण उपयोगको नहीं

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कहा जा सकता। कारण दो प्रकारके होते हैं—उत्पादक और साधक। यहाँ कारण शब्दसे उत्पादकका अर्थ लगाना और जिसे साधक कारण कहा जाय उसका नाम यहाँ हेतु रखा गया है। उपयोग गुण दोषका हेतु नहीं है याने गुण दोषका साधक नहीं है, ज्ञायक नहीं है। जैसे धूम देखनेसे अग्निका ज्ञान होता है तो धूम साधक है और अग्नि साध्य है। धूम ज्ञायक है और अग्नि वहाँ जानी जा रही है तो ज्ञायक भी हेतु कहलाता है, उपयोग ज्ञायक भी नहीं है, परका उपयोग है इससे दोष सिद्ध हो और स्वका उपयोग है, इसलिए गुणका उत्कर्ष सिद्ध हो ऐसा साधक भी नहीं है, अतएव उपयोग गुण और दोषका हेतु भी नहीं है। सहकारी उसे कहते हैं कि जो कुछ कार्यमें सहयोग दे, जो साथ रहता हो उसे कहते हैं सहकारी। तो उपयोग गुणका सहकारी भी नहीं है। जैसे घड़ा बनाते समय कुम्हारके दंड, चक्र आदिक सब सहकारी हैं तो इस तरह उपयोग गुण दोषका सहकारी भी नहीं है। तब उपयोगकी ओरसे गुण दोषका निर्णय न करें कि परमें उपयोग है तो दोष हो रहा, स्वमें उपयोग है तो गुण हो रहा। जो रागभरा उपयोग है, जिसके साथ अनेक रागद्वेषकी कल्पनायें भी लगी हैं उस उपयोग वालेको तो यह उपदेश दिया जाता। वहाँसे चित्त हटावो, परसे अलग हटाकर अपनेमें उपयोग लगाओ। वहाँ भी सूक्ष्मतया अर्थ यह है कि रागद्वेष हटावो। पर चूंकि उपयोग ऐसे साथ-साथ रह रहे हैं तो जैसे कल बताया था कि रागद्वेषके सम्बंधके कारण इस उपयोगको भी गालियाँ सहनी पड़ती हैं, जो बेचारा निरपराध है, जिसका काम प्रतिभासमात्र है उसपर भी दोष मढ़ा जाता है। तो जब-जब उपयोगको स्वोपयोगी करनेके लिए उपदेश किया गया हो वहाँ भाव और प्रयोजन यह लेना कि रागद्वेष विकल्प मिटावो, इससे आत्माका लाभ होगा।

सम्यक्त्वं जीवभावः स्यादस्तादृदृङ्मोहकर्मणः।
अस्ति तेनाविनाभूतं व्याप्तेः सद्भावततस्तयोः ॥८७४॥

सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके कारणका प्रकाश—ये गुण दोष सम्यक्त्वके सद्भाव और अभावसे हुए हैं। तो यह जिज्ञासा होती है कि सम्यक्त्व उत्पन्न होना किस तरह है? तो सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण यहाँ बताते हैं। दर्शनमोहनीय कर्मके अस्त होनेसे सम्यक्त्वभाव प्रकट होता है जो जीवका निज भाव है, उसकी उत्पत्ति दर्शनमोहकर्मके उपशमसे, क्षयसे, विनाशसे, अभावसे है, क्योंकि सम्यक्त्वका अविनाभाव दर्शनमोहकर्मके उपशम, क्षय, क्षायोपशमादिकमें साथ है। दर्शनमोहके उपशमादि हुए बिना सम्यक्त्व नहीं होता, अतएव सम्यक्त्व की उत्पत्तिका कारण दर्शनमोहका उपशम आदिक है। इन दोनोंमें व्याप्ति घटित होती है। जहाँ सम्यक्त्व है वहां दर्शनमोहका उपशम आदिक है, इन दोनोंमें व्याप्ति घटित होती है। जहाँ सम्यक्त्व है वहां वहां दर्शनमोहका उपशम, क्षय, क्षयोपशम है। जहां दर्शनमोहका उपशम, क्षय, क्षयोपशम है वहां सम्यक्त्व है। ऐसी व्याप्ति होनेके कारण यहां सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण दर्शनमोहका क्षय आदिक बताया है। कोई यहां सम्यक्त्वकी उत्पत्तिकी जिज्ञासा कर

Report any errors at vikasnd@gmail.com

सकता है कि जब दोनोंका अविनाभाव है और समय भी एक है तो सम्यक्त्वका कारण दर्शनमोहका अभाव क्यों कहा जा रहा है ? यों कह दीजिए कि दर्शनमोहके अभावका कारण सम्यक्त्व है। जैसे कि करीब-करीब आज चर्चा उठ रही है, उसका समाधान यह है कि दर्शन मोहका बन्ध होता है, सत्त्व होता है, उदय होता है और दर्शनमोहका उदय होनेपर यहाँ सम्यक्त्वका अभाव है। यह बात अब तक चली आयी है। तो जिसका सद्भाव सम्यक्त्वके अभावका कारण है उसका अभाव सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण है। तो सम्यक्त्वका जो प्रारम्भ है वह नैमित्तिक है। सम्यक्त्व उत्पन्न होनेके बाद फिर दर्शनमोहका अभाव ही है, क्षय हो चुका है। अब तो उसका वह स्वभाव ही है कि जैसे अन्य शुद्ध द्रव्योंमें उस स्वभाव-परिणमनकी बात बनी रहती है उस तरह बना रहता है। जैसे केवलज्ञानकी उत्पत्तिका तो कारण है ज्ञानावरणका क्षय, लेकिन अनन्तकाल तक जो केवलज्ञान बना रहता है उसका कारण क्या बताया जाय ? वह तो उनकी स्वभावपरिणति है। तो सम्यक्त्व तो निरन्तर चल रहा है, तो अब अपने स्वभावसे है, मगर सम्यक्त्व प्रारम्भमें जो उत्पन्न हुआ है वह न था और हुआ। तो जो कोई भी नवीन बात होती है, पहिली पर्यायसे विलक्षण बात होती है उसका कोई कारण अवश्य होता है। उसका कारण यहाँ बताया गया है दर्शनमोहका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम।

दैवादस्तं गते तत्र सम्यक्त्वं स्यादनन्तरम्।
दैवान्नास्तंगते तत्र न स्यात्सम्यक्त्वमञ्जसा ॥८७५॥

काललब्धि आदिक वश या योग्य द्रव्य या क्षेत्र, काल, भाव आदिक मिलनेपर या जो समय आये वह प्राप्त होनेपर, उपादान और जैसा जो निमित्त हो उनकी उपलब्धि होनेपर, उस दर्शनमोह कर्ममें उपशम, क्षय, क्षयोपशम होनेपर आत्मामें सम्यक्त्व प्रकट होता है और दैववश याने दर्शनमोहका उदय आदिक होनेपर, दर्शनमोहके अस्त न होनेपर सम्यक्त्व नहीं होता। दर्शनमोह कर्म सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमें बाधक है। ऐसे ही निमित्तनैमित्तिक योग है। जब वस्तुकी ओरसे निरखते हैं तो वहाँ यही निर्णय है कि अन्य पदार्थ किसी अन्य पदार्थकी परिणतिको नहीं करता। तब वहाँ होता क्या है ? निमित्तको पाकर उपादान स्वयं अपनेमें अपना प्रभाव उत्पन्न कर लेता है। स्थिति यह है। निमित्तनैमित्तिक योगका स्पष्ट अर्थ यह है कि निमित्तके सन्निधानमें उपादान अपनी परिणतिसे अपनेमें प्रभाव उत्पन्न करता है, यह प्रभाव निमित्तका नहीं है। उस प्रभावको निमित्तने नहीं किया है। हाँ, निमित्तके असन्निधान में वह प्रभाव नहीं होता। तब यह प्रक्रिया बनी कि निमित्तके सन्निधानमें उपादान अपने प्रभाव वाला होता है। ऐसे ही सर्वत्र घटा लेना चाहिए। अजीव अजीवमें घटा लो, जीव जीवमें घटा लो, सर्वत्र यही उपदेश है। तो दर्शनमोहका अस्तमन होना सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका

निमित्त है व दर्शनमोहका उदय एक ऐसा निमित्त है कि उस उदय सन्निधानके होनेपर सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता। यह छन्द सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिका कारण दर्शनमोहका उपशम आदिक है, इसका समर्थन करने वाला है।

साधं तेनोपयोगेन न स्याद् व्याप्तिर्द्वयोरपि।
विना तेनापि सम्यक्त्वं तदस्ते सति स्याद्यतः ॥८७६॥

उपयोगके साथ सम्यक्त्व व दर्शनमोहास्तमन दोनोंकी व्याप्तिका अभाव—उस उपयोगके साथ दर्शनमोहके अनुदय और सम्यक्त्वके सद्भाव दोनोंकी व्याप्ति नहीं है अर्थात् स्व उपयोग होनेपर ही सम्यक्त्व और दर्शनमोहका अनुदय हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। स्वका उपयोग न भी हो तो भी जीवके दर्शनमोहका अनुदय और सम्यक्त्व पाया जा रहा है। तो स्वोपयोगके साथ इसकी व्याप्ति तो न रही। दर्शनमोहका अभाव और सम्यक्त्वकी तो व्याप्ति है, लेकिन उपयोगके साथ इन दोनोंकी व्याप्ति नहीं है। उपयोगके होनेपर सम्यक्त्व हो ही हो, दर्शनमोहका अनुदय हो ही हो। यहां ३ बातें बतायी जा रही हैं—दर्शनमोहका अभाव, सम्यक्त्व और उपयोग, ये तीनों बातें अपना-अपना जुदा-जुदा अर्थ रखती हैं। इससे दर्शनमोहका अभाव और सम्यक्त्वका सद्भाव इसकी तो परस्पर व्याप्ति है। यहाँ यह है, यहां दूसरा है, पर उपयोगके साथ इन दोनोंकी व्याप्ति नहीं है। यह बात इसका समर्थन कर रही है कि उपयोग चाहे स्वकी ओर हो, चाहे परकी ओर हो, उस उपयोगके ऐसे विषयके कारण दोष और गुण नहीं हुआ करते।

सम्यक्त्वेनाविनाभूता येपि ते निर्जरादयः।
समं तेनोपयोगेन न व्याप्तास्ते मनागपि ॥८७७॥

उपयोगके साथ संवर और निर्जराकी भी व्याप्तिका अभाव—जिस प्रकार उपयोगविशेषके साथ सम्यग्दर्शन और मोहके अनुदयकी व्याप्ति नहीं है उसी प्रकार निर्जरा और संवर आदिक गुणोंकी भी उपयोगके साथ व्याप्ति नहीं है। सम्वर और निर्जरा तो सम्यग्दर्शनकी अविनाभावी है, उपयोगकी अविनाभावी नहीं है। इस तरह यह बात समझना चाहिए कि उपयोग निर्जरा और सम्वरमें भी कारण नहीं है। यहाँ यह बात न भूलना चाहिए कि जिसके रागद्वेष विशेष लगा है और रागद्वेषकी प्रेरणासे उपयोग चलित होता रहता है उनको तो यह उपदेश देना भला है कि देखो विकारोंमें, बाहरी बातोंमें मत लगो। प्रयत्न करें, बाहरसे उपयोग हटे और स्व आत्मामें उपयोग लगे। जैसे दृष्टान्त बताया गया है कि नई बहूको तो यह उपदेश किया जाता है कि तुम परघर मत जाया करो, मगर बुढ़ियोंको कोई नहीं कहता कि तुम परघर न जाया करो। तुम परघर जावो कितना ही, वहाँ कोई नहीं रोकता। तो जाने की रोक किसीको नहीं है, जहाँ चाहे रहे, पर योग्यताके अनुसार वहाँ बात की गई है। इसी

तरह जिसका उपयोग रागद्वेष मलिन है वह नई बहूकी तरह है। उसे तो रोकका उपदेश है। तुम बाहरी पदार्थोंमें उपयोग न देकर आत्मामें उपयोग लगावो। मगर जो उपयोग वृद्ध हो गया है याने शुद्ध है, साफ है, अनुभव है उस उपयोगके लिए यहाँ मना नहीं किया जा रहा, चाहे स्वमें लगे, चाहे परमें लगे। स्वोपयोग होनेसे कोई गुण न बनेगा, परोपयोग होनेसे कोई हानि न हो जायगी।

सत्यत्र निर्जरादीनामवश्यम्भावलक्षणम्।
सद्भावोस्ति नासद्भावो यत्स्याद्वा नोपयोगि तत् ॥८७८॥

सम्यक्त्व होनेपर संवर निर्जरादिकी अवश्यंभाविता—इस छन्दमें यह बताया जा रहा है कि सम्यग्दर्शनके होनेपर निर्जरा सम्वर अवश्य ही होता है। सम्यग्दर्शन हो और सम्वर निर्जरा न हो, ऐसा नहीं हो सकता। यह बात तो हो सकती है कि उस समय ज्ञान स्वोपयोगी न हो। सम्वर निर्जराकी व्याप्ति सम्यक्त्वके साथ है, उनमें उपयोग कारण नहीं है। जब अभेददृष्टिसे बात करते हैं अध्यात्मशास्त्रमें तब तो यह ही कहा जाता है कि जो कुछ है सो उपयोग है और कुछ दिखता ही नहीं। और उपयोग नाम है किसका? उपयोग नाम है प्रयोग करनेका। आत्मामें एक स्वभाव है, एक पर्याय है। है आत्मा एक द्रव्य, और उसका जो कुछ परिणमन है सो वह है एक। वहाँ नाना परिणाम नहीं पड़े हैं। प्रतिबोधके लिए जैसे नाना गुण बताये जाते हैं, ऐसे ही प्रतिबोधके लिए नाना पर्यायें बतायी जाती हैं अथवा नाना पर्यायोंके प्रतिबोधके लिए बहुत ज्ञान कराये जाते और उन नाना पर्यायोंका ज्ञान कराकर नाना गुणोंका ज्ञान कराया जाता और नाना गुणोंका ज्ञान कराकर, फिर उस बाहुल्यसे हटाकर अभेद आत्मस्वरूपका ज्ञान कराया जाता है। प्रतिबोधकी यहाँ ये पद्धतियाँ बतायी हैं। वहाँ विकारका अर्थ यह नहीं, जो इस प्रकरणमें चल रहा है वह है उपयोग। सबका प्रतिनिधि, और यहाँ उपयोगको भेददृष्टिसे निरख करके चर्चित किया जा रहा है, उपयोग मायने ज्ञानगुणका कार्य। जानन प्रतिभास होना। उस जाननमें क्या ऐब आया? वह जानन सामान्य क्या है? वह इस तरहसे है जैसे कुछ जान लिया। सीपको चाँदी जान लिया, इसमें शुद्ध जाननेका अंश कितना है और फिर विशिष्टताका अंश क्या है, वहाँ निर्णय तो करो। प्रतिभासमें आया वह गलत थोड़े ही आया। वह सही है। अब इसमें एक विशिष्टताकी बात लगाई जाती है कि यह अमुक पदार्थ है, यह अमुक पदार्थ है, तो यहाँ जाननेका अर्थ प्रतिभास लेना है, विशिष्टता नहीं लेना है। यहाँ उपयोगको गुण दोषका कारण नहीं कहा जा रहा, किन्तु सम्यक्त्व और चारित्रकी अवस्थाओंको गुण दोषका कारण बताया गया है।

आत्मन्येवोपयोग्यस्तु ज्ञानं वा स्यात्परात्मनि।
सत्सु सम्यक्त्वभावेषु सन्ति ते निर्जरादयः ॥८७९॥

सम्यक्त्व भाव होनेपर स्वोपयोग हो या परोपयोग हो संवर निर्जराकी अवश्यंभाविता—उक्त कथनका स्पष्टीकरण इस गाथामें किया जा रहा है। ज्ञान चाहे स्वभावमें उपयोगी हो, चाहे परपदार्थमें उपयोगी हो, सम्यग्दर्शन आदिक भावोंके होनेपर ही निर्जरा होती है। बात तो यहाँ सिद्धान्त रूपमें स्पष्ट कर दी है। सम्यग्दर्शन हो तो सम्वर निर्जरा हो। अब सम्यग्दर्शन कैसे हो, इसके लिए क्या उपाय करना? इसका जो कारण बताया है दर्शनमोहका उपशम आदिक उसे हम क्या करें? वह तो परद्रव्य है। उसे हम देखते नहीं। उसे टालनेका क्या उपाय है? अभ्यास। तत्त्वज्ञानका अभ्यास होनेपर भी किसीके दर्शनमोह टलता है, किसीके नहीं टलता है। सो क्या कारण है? जिस रूपमें, जिस विधिमें, जिस मार्गमें तत्त्वज्ञानका अभ्यास अथवा जिस स्थितिका तत्त्वज्ञानका अभ्यास उन कर्मोंके टालनेका हेतु हो सकता है वह न हुआ, इसलिए उनका कल्पित तत्त्वज्ञानाभ्यास सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण न बन सका अर्थात् दर्शनमोहके अलग करनेका कारण न बन सका। लेकिन बुद्धिपूर्वक उपाय हम आपका यदि कहा जाय तो यह ही कहा जा सकेगा कि हम यथार्थ तत्त्वका अभ्यास करें।

अहितको अहित जानकर उससे हटनेका भाव होनेपर हितकी ओर आनेकी सहजता—अब कोई कहने लगें कि उपयोग हमारा इस तरहका कैसे बने कि हम दर्शनमोह आदिककी नाकमें भी नकेल डाल दें? उसका उपाय है वस्तुस्वरूपका अभ्यास। हम वस्तुस्वरूप जानें; आत्मतत्त्व, अनात्मतत्त्व इनका बोध बढ़ायें और ये सब बोध बढ़ें, इसका उपाय क्या कि अपना ऐसा संकल्प बने, ऐसा अभिप्राय बने कि मुझे तो अपना हित करना है, मूल बात यह है। जिनके अपने हितका भीतरमें भावना नहीं जगी है उनके ढंगसे तत्त्वज्ञान और वस्तुस्वरूपके अभ्यासकी बात नहीं बनती है। आत्माका मुझे हित करना है, ऐसा भाव तब बनेगा जब यह मालूम पड़े कि अहित हो क्या रहा है? जब हम उस अहितसे कुछ घबड़ायें, उस अहितसे दूर होनेकी बात मनमें लायें तब ही तो हमारेमें हितकी भावना जगेगी। भैया! अहितको अहित समझनेके लिए बड़ी सुगमता है। अहितसे भरा संसार है। ढंगसे समझना चाहें तो सब समझ लें। संसार दुःखमय है, मायारूप है। क्या मतलब पड़ा है मेरा किसीसे, ये सब स्वतंत्र पदार्थ हैं, बाहरी चीज हैं, सबके अपने-अपने कर्म हैं, सब अपने उदयसे जन्म मरण करते हैं, फल भोगते हैं, कर्मके बन्धसे फसे हुए हैं, जन्ममरण कर रहे हैं। आज मनुष्य हैं, कुछ पुण्यका साधन है, खाने-पीनेकी सुविधा है। कब तक ऐसी सुविधा रखेंगे, कब तक ये आपका काम देंगे, ये मकान देहादिक आपके पास कब तक रहेंगे? ये छूटेंगे, फिर क्या होगा? जन्ममरण। न जाने कहाँसे कहाँ जन्म होगा? मान लो यहांसे मरकर कीट पतिंगा आदिकमें जन्म हो गया, वृक्ष आदिकमें जन्म हो गया तो फिर कहां शान रहेगी, क्या बात बनेगी? तो दुःखोंसे भरा हुआ यह संसार है। हमें किसीसे क्या बिगाड़? हमें किसीसे

http://www.jainkosh.org

क्या झंझट करना, बाहरमें जो हो सो हो, बाहरमें जो जैसा करता हो, मानता हो, बोलता हो, जो कुछ हो सो हो, मेरेको तो अपनी विपत्ति मिटाना है, और प्रयोजन नहीं है। यह भावना भीतरमें जगी हो तो उस पुरुषका हितकी ओर लगाव लग सकता है। कहनेकी बात और होती है, भीतरकी धुन बननेकी बात और होती है। यहाँ धुनकी ही तो बात कह रहे हैं कि ऐसी बात चित्तमें समा जाय तो उसके लिए हित होना, धर्म होना कौनसी कठिन बात है ? आत्मा तो धर्मस्वरूप है। कठिनता तो वहाँ होती कि जहाँ गाँठमें कुछ न हो और चाहें उस चीजको ? हमारी गाँठमें धर्म है, विशुद्धि है, गुप्ति है। अनन्तज्ञान, अनन्तआनन्द, अनन्तशक्ति सब भीतर पड़ी है, शक्तिरूपमें स्वभावरूपमें सब चीजें हैं। कठिनाईकी क्या बात है ? बस एक विशुद्ध हमारा उद्देश्य बन जाय, अहितको हम अहित जान लें तो हमारा सब काम बन सकता है, परन्तु जीवोंपर मोहकी धूली ऐसी पड़ी है कि वे अहितको अहित नहीं जान पाते। सबसे बड़ा भारी संकट है तो यह संकट है जीवोंको।

यत्पुनः श्रेयसो बन्धो बन्धश्चाऽश्रेयसोपि वा।
रागाद्वा द्वेषतो मोहात् स स्यात् स्यान्नोपयोगसात् ॥८८०॥

उपयोगसे पाप पुण्य बन्धका भी अभाव तथा रागद्वेष मोहसे पुण्य पापका बन्ध— उक्त स्थलमें यह बताया गया था कि संवर, निर्जरा, सम्यग्दर्शन, मोहका अस्तवन—इन सबकी व्याप्ति उपयोगके साथ नहीं है। उसी प्रकार यहाँ यह बतला रहे हैं कि निर्जरा आदिक गुणों में जैसे उपयोग कारण नहीं इसी तरह पुण्यबंध और पापबन्धमें भी उपयोग कारण नहीं है। उपयोगका अर्थ पदार्थोंका जानना है। जितनी योग्यता है उस योग्यताके अनुसार पदार्थोंके प्रतिभासनका नाम है उपयोग। तो पदार्थ प्रतिभास हो इसमें न संवर निर्जरा है न पापपुण्य की बात है। पुण्यबंध और पापबंध रागद्वेष मोहसे हुआ करते हैं, वे उपयोगसे नहीं होते हैं। अब चूंकि रागद्वेषको व्यक्त करने वाली चीजें तो उपयोग हैं। जैसे कल्पना करे कोई कि उपयोग तो न बने, उपयोग तो न हो और रागद्वेष मोह हो जाय, ऐसा भी कोई जीव है क्या कि उपयोग तो हो न और रागद्वेष मोह हो। रागद्वेष मोहको व्यक्त करने वाला, रागद्वेष मोहको आत्मसात् करने वाला, इनकी मुद्रा बनाने वाला तो यह उपयोग ही तो है। इसलिए उपदेशमें यह कहा जाना युक्त है कि ऐसा उपयोग हो तो वहाँ पुण्य बँधता है, पाप बँधता है। तो यह इस कारणसे कहा जाता है, पर स्वरूप दृष्टि दें तो उपयोगका जो स्वरूप है उतने मात्रको दृष्टिमें लें, रागद्वेषका जो स्वरूप है उसको भी समझें तो वहाँ एक पार्थक्य होता है कि उपयोगसे पुण्य-पापबंध नहीं बँधता, किन्तु रागद्वेष मोह भावसे पुण्यबंध पापबंध होता है।

व्याप्तिर्बन्धस्य रागाद्यैर्नाऽव्याप्तिर्विकल्पैरिव।
विकल्पैरस्य चाऽव्याप्तिर्न व्याप्तिः किल तैरिव ॥८८१॥

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

रागादिकके साथ बन्धकी व्याप्तिका कथन—बन्धकी व्याप्ति रागादिकके साथ है। जैसे रागादिक हैं तिस प्रकारका बन्ध है। रागादिकके साथ उपयोगकी व्याप्ति न होनेकी तरह बन्धकी भी उपयोगके साथ व्याप्ति नहीं है। जैसे उपयोगकी रागादिकके साथ व्याप्ति नहीं है कि स्व या परका उपयोग हो तो राग हो ही हो, ऐसे रागकी उपयोगके साथ व्याप्ति नहीं है उसी प्रकार उपयोगकी बंधके साथ भी व्याप्ति नहीं है। उपयोगका अर्थ है प्रतिभासन। सारांश यह है कि बन्धके होनेमें रागद्वेष कारण है। शुभ बन्धमें क्या कारण है? शुभभावकी तीव्रता होना और अशुभ कर्मोदयकी मंदता होना तो वहां शुभ बन्ध होता है, दोनों ओरसे बात समझ लीजिए। शुभबन्धमें आत्माकी ओरसे किया हुआ शुभ भाव हो विशेष तो शुभबन्ध होता है और कर्मकी ओरसे अशुभ कर्मोदयकी मन्दता होती है। यह परम्परया विचार करके बात समझ लीजिए। अशुभ कर्मोदय तीव्र हो रहे हों तो ऐसी स्थितिमें शुभभावकी तीव्रता प्रायः नहीं होती। यद्यपि हम इसे सर्वत्र व्याप्तिको न लगा सकेंगे। कोई साधु है, तीव्र उपसर्ग आ रहा तो एक जातिका अशुभ कर्म तीव्र आया है। मगर उसकी स्थिति ऐसी नहीं है कि अशुभ कर्मोदय ही तीव्र चल रहे हैं और कुछ नहीं होता। जैसे कि अज्ञानी जनोंमें, साधारण जनोंमें अशुभ कर्मोदयकी तीव्रता है तो अनेक अशुभ कर्मोंकी तीव्रता है, किन्तु वहां तो अशुभ कर्मकी तीव्रता है, तो शुभ कर्मका भी वहां कुछ अधिकार है। भला ज्ञानावरणका इतना क्षयोपशम तत्त्वज्ञान जहां जबरदस्त हो रहा है, कैसे कहा जाय कि वहां शुभकर्मकी तीव्रता ही मात्र है उपसर्गमें आये हुए उन साधुवोंके। जिस कामको लेकर सोचा जा रहा है उसकी दृष्टि से कहा जाता है कि तीव्र अशुभोदय है। गजकुमार मुनि महाराजके सिरपर अंगीठी रख दी तो कितना बड़ा उनके तीव्र अशुभ कर्मका उदय कहा जाय, और है उस कार्यको देखकर यह सत्य बात, मगर साथ ही कितनी अशुभकर्मकी मंदता भी वहां है अन्यथा यह क्षयोपशम काम कैसे करता, तत्त्वज्ञान बाधक कैसे रहता, उच्च विचार कैसे बनता, उत्तम ध्यान कैसे बनता? तो शुभ बन्धमें कारण शुभकर्मकी मन्दता बतायी गई, वह ठीक है और अशुभ बन्धमें अशुभ रागकी तीव्रता और शुभ कर्मोदयकी मन्दता कारण है।

रागका कठिनकषायपना—अच्छा, बताओ रागद्वेष इन दो कषायोंमें, इन दो विभावों में कठिन विभाव कौन है? राग, क्योंकि उसके अनेक कारण आपको विदित होंगे। एक तो यह कि सिद्धान्तके अनुसार राग मिटनेसे पहिले द्वेष समाप्त हो जाता है, द्वेष समाप्त होता है ९वें गुणस्थानमें और राग समाप्त होता है १०वें गुणस्थानके अन्तमें। अब व्यवहारदृष्टिसे देखिये—द्वेषमें कोई उतना अंध नहीं हो सकता जितना अंध रागमें होता है। द्वेषमें जीव उतना विवेकको नहीं खोता जितना कि रागमें विवेकको खो देता है। इस रागके कारण बड़ी कठिन-कठिन स्थितियां होती हैं। इसलिए अशुभ रागकी तीव्रता यहां समझना है। यह अशुभ

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

रागकी तीव्रता एक विकट विपदा है और साथ ही हुई शुभ कर्मोदयकी मंदता, तो इस स्थिति में अशुभबंध बन्ध होता है, परबन्ध मात्रमें उपयोग कारण नहीं। अशुभ हो तो उपयोगके कारण अशुभबन्ध नहीं, शुभबन्ध हुआ तो उपयोगके कारण शुभबन्ध नहीं। तो बन्धका अविनाभाव रागद्वेषके साथ रहा, किन्तु उपयोगके साथ न रहा, यह बात कही जा रही है। इस बातको पुष्ट करनेके लिए जो प्रकृतमें कहा गया था कि उपयोगके कारण गुणका उत्कर्ष अपकर्ष नहीं है। गुणके उत्कर्ष अपकर्षका कारण तो सम्यक्त्व और चारित्र गुणकी अवस्था है, उसका ही यह सब समर्थन है।

नानेकत्वमसिद्धं स्यान्नस्याद्व्याप्तिर्मिथोऽनयोः।
रागादेश्चोपयोगस्य किन्तूपेक्षास्ति तद्द्वयोः ॥८८२॥

रागादिमें व उपयोगमें परस्पर अव्याप्ति व अनेकता—राग जुदा स्वरूप रखने वाला तत्त्व है, उपयोग जुदा स्वरूप रखने वाला तत्त्व है अथवा उनमें अनेकता है। ये दोनों एक नहीं हैं। राग भिन्न बात है और उपयोग भिन्न बात है। इन दोनोंमें परस्पर व्याप्ति नहीं है। राग और उपयोग दोनोंमें अपेक्षा नहीं है कि राग अपने स्वरूपनिर्माण उपयोगकी कृपा पर करे, उपयोगके संकेतके अनुसार करे, उपयोगकी स्थितिके अनुसार करे सो नहीं है, और उपयोग रागद्वेषके अनुसार हो सो नहीं है। उपयोगका निर्माण अपने आपसे है। राग का निर्माण अपने आपसे है। देखिये—जब एक शुद्ध दृष्टि करके याने एकको एकमें ही देख करके जब बात समझेंगे तो उस समय जीवके राग भी चल रहा, ज्ञान भी चल रहा, मगर ज्ञानका परिणमन ज्ञानके करणसे हो रहा है और रागद्वेष रूप परिणमन रागद्वेषके करणसे हो रहा है। जीवके जब राग उत्पन्न होता है तो उसकी मुद्रा, उपयोगके साहचर्य बिना बन नहीं सकती, तो भी वहाँ रागके कारणसे ज्ञान नहीं होता। ज्ञान ज्ञानके कारणसे होता है, राग रागके कारणसे होता है। राग वहाँ ज्ञेय हो जाता है, ऐसी भिन्नताका विवेक जिसके जगा है वही तो ज्ञानी है। जैसे यहाँ ये भींत, चौकी आदिक पदार्थोंको जान रहे हैं तो यहाँ तो यह बात झट समझमें आ जायगी कि हम भींत चौकीके करणसे नहीं जान रहे हैं, हम अपने आपमें अपने ही उपमा साधनसे जान रहे हैं। और ये भींत चौकी आदिक मेरे ज्ञानके करणसे नहीं बन रहे हैं। यह तो अपने स्वरूपमें अपनी विधिसे बन रहे हैं। यह बात जैसे स्पष्ट समझमें आती है इसी प्रकार यहां भी स्पष्ट समझना होगा कि यहां जो राग और ज्ञान ये दो चल रहे हैं तो उसमें भी रागके करणसे ज्ञान नहीं चल रहा, ज्ञानके करणसे राग नहीं चल रहा। राग तो ज्ञानमें ज्ञेय हो रहा और इस तरह किसी स्थितिमें रागकी मुद्रा भी बन जाती है। तो राग भिन्न तत्त्व है, ज्ञान भिन्न तत्त्व है, इन दोनोंमें सम्बन्ध नहीं है। दोनों स्वतंत्र स्वतंत्र हैं, इसमें व्याप्ति नहीं है। इससे यह सिद्ध किया गया कि उपयोगके

Version 1

कारणसे बंध नहीं, उपयोगके कारणसे संवर निर्जरा नहीं। इन सबका कारण तो सम्यक्त्व और चारित्र गुणकी अवस्थायें हैं।

कालुष्यं तत्र रागादिर्भावश्चौदयिको यतः।
पाकाच्चारित्रमोहस्य दृङ्मोहस्याथ नान्यथा ॥८८३॥

रागादिकभावका स्वरूप—रागादिक पदार्थ क्या कहलाते हैं, इसका वर्णन इस श्लोक में किया गया है। आत्माकी कलुषताका नाम रागादिक भाव है। जो सकषाय परिणाम होते हैं उन्हें रागादिक कहते हैं। ये रागादिक आत्माके अविनाभाव हैं, आत्माका परिणमन है, इस कारण जीवका स्वतत्त्व कहीं है। जीवका जीवके ही कारण अपने ही सहज स्वभावमें राग होता हो, ऐसा यह जीवका स्वतत्त्व नहीं है। यह तो औदयिक भाव है। जैसे सामने आये हुए हाथका प्रतिबिम्ब दर्पणपर आया और दर्पणमें जो प्रतिबिम्ब हुआ उस प्रतिबिम्बको क्या कहेंगे? दर्पणका स्वतत्त्व। हां दर्पणका परिणमन है वह। भले ही हाथका सन्निधान पाकर हुआ है, नैमित्तिक भाव है, किन्तु वह प्रतिबिम्ब हाथका परिणमन नहीं। अतएव कहेंगे कि वह दर्पणका स्वतत्त्व है, किन्तु दर्पणमें दर्पणकी ओरसे दर्पणके ही कारणसे क्या वह प्रतिबिम्ब हुआ है? तो स्पष्ट समझमें आ गया कि नहीं? अतएव प्रतिबिम्ब दर्पणका स्वतत्त्व नहीं है, किन्तु दर्पणमें निरन्तर दर्पणके कारण रहने वाली जो स्वच्छता है वह दर्पणका स्वतत्त्व है। वे रागादिक भाव आत्माके स्वतत्त्व नहीं है। स्वयंके भाव, सहजभाव नहीं हैं, किन्तु ये औदयिक भाव हैं। ये चारित्र मोहनीय, दर्शन, मोहनीयके विपाकका निमित्त पाकर हुए हैं, इस कारण इन्हें नैमित्तिक भाव कहते हैं। सम्यक्त्वके घातने वाली प्रकृति है दर्शन-मोह। दर्शनमोहके उदयसे होता है मोहभाव और चारित्रको घातने वाली प्रकृति है चारित्र-मोह। चारित्रमोहके उदयसे हुए रागद्वेष।

मोह व रागमें अन्तर—मोह और रागद्वेषमें बहुत अन्तर है। मोह विकट विपदा व विडम्बना है। रागद्वेष एक संकट है। रागद्वेषका मूल अर्थात् जिस जड़से रागद्वेष पुष्ट होते हैं वह जड़ है मोह। जैसे वृक्ष खड़ा है तो उसकी डाली-डाली, उसके पत्ते-पत्ते सब हरे-भरे चल रहे हैं। तो उन पत्तोंका हरा-भरा होनेका मूल क्या है? वृक्षकी वह जड़। जब तक वृक्ष जड़से खड़ा है तब तक खूब हरा-भरा रहेगा। हरे-भरेका उत्कर्ष होगा, हरे-भरेकी परम्परा रहेगी और जड़ काट दी जाय, वृक्ष नीचे गिर जाय तो गिर जानेपर भी वृक्ष तो अभी भी हरा-भरा है, लेकिन उसका यह हरा-भरापन सूखनेकी ओर है। उसका उत्कर्ष करने वाली, उसका पालन-पोषण करने वाली जड़ अब न रही। इसी प्रकार मोह रागद्वेषको उत्पन्न करने वाली, हरा भरा रखने वाली जो उसकी जड़ है उसे काट दिया जाय तो भी कुछ काल तक रागद्वेष मोह रहते हैं, लेकिन उनकी प्रकृति मुरझानेकी ओर रहती है, बढ़नेकी ओर नहीं

रहती और कुछ काल पाकर वह पूर्ण मुरझा जाता है, नष्ट हो जाता है। तो रागद्वेष और मोह इनमें बड़ा अन्तर है। यों सहसा तो लोग कह देते हैं कि मोह राग तो एक ही बात है, इसका उसमें मोह है, इसका उसमें राग है और बल्कि किसी-किसी घटनामें तो ऐसा सोच डालते हैं कि राग तारीफके लायक नहीं रहता, मोह तारीफके लायक रहता है। यह सांसारिक बात कह रहे हैं। जैसे कोई कहे कि आपका भैया अपने भतीजेपर या किसीके बच्चेपर बड़ा मोह करता है तो लोग इसमें तारीफ समझते हैं। पर यह मोह तो अज्ञानकी चीज है। रागद्वेष तो ज्ञानके साथ रह सकता है, पर मोह ज्ञानके साथ नहीं रह सकता। मोह एक तेज शराब जैसी है। "मोह महामद पियो अनादि।" ऐसा कहा भी तो है। जैसे तेज शराब पिया हुआ पुरुष अपनी कुछ सुध-बुध नहीं रखता, इसी तरह मोहमें मग्न हुआ जीव भी अपनी सुध-बुध नहीं रख सकता। और जो साधारण मादक चीजें हैं जैसे लोग बीड़ी सिगरेट वगैरा पीते हैं, तो उनके पीनेसे सुध-बुध तो रहती है, लेकिन उनके पीनेमें भी संकट है। कलेजा जले, हाथ काला हो, मुख काला हो, दांत खराब हो जायें, मुखसे दुर्गन्ध आने लगे, कुछ इसमें भी विपत्ति है, मगर लोकमें उसे पागल नहीं माना जाता। तो ऐसे ही समझिये कि इस राग में भी जीवको संकट आता है, कुछ बेहोश, मुग्ध दशा रहती है, पर मोहमें तो वह पूर्ण बेहोश, व्यामुग्ध, पागल हो जाता है। तो इन सब ऐबोंका कारण उपयोग नहीं है, यह बात यहाँ प्रकृतमें चल रही है।

क्षायोपशमिकं ज्ञानमुपयोगः स उच्यते।
एतदावरणस्योच्चैः क्षयाद्वोपशमाद्यतः ॥८८४॥

उपयोगका परिचय—उक्त श्लोकमें बताया था कि रागका क्या परिचय है? जिसके साथ उपयोगकी व्याप्ति नहीं लगा रहे। अब इस छन्दमें पूछा जा रहा है कि उपयोग क्या पदार्थ है जिसके साथ रागादिककी व कर्मबन्धकी व्याप्ति नहीं लगा रहे हैं। इस सम्बंधमें कह रहे हैं कि जो क्षायोपशमिक ज्ञान है, उसका काम उपयोग है याने जिस ज्ञानको लगाना है, जोड़ना है वही तो उपयोग है, ऐसी स्थिति इस क्षायोपशमिक ज्ञानमें हो रही है तो जो ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उपयोगवृत्ति जगती है उसका नाम है उपयोग। तो इससे यह बात जाहिर हुई कि उपयोगका काम प्रतिभासपना है। लगन लगनेकी बातमें भी कुछ कारण तो है। वही रागद्वेष। उपयोग लगाता कौन है? जिसके रागद्वेष चलता है। ज्ञानमें चंचलता किसकी है? इन रागद्वेषोंकी ही। जहाँ ऐसी कलुषता है वहाँ उपयोग यों भ्रमण करता है, लेकिन उपयोगका जो स्वरूप है उसमें जो ज्ञप्ति है, जो कुछ है उस ज्ञप्तिसे रागका स्वरूप भिन्न है। जानना ज्ञप्ति है वही उपयोग है। तो ऐसा उपयोग रागके साथ व्याप्त नहीं और बंधके साथ व्याप्त नहीं, सम्वर निर्जराके साथ व्याप्त नहीं। उप-

योग तो अपने उपयोगकी योग्यतामें। अपनेमें बात उसकी बनती है, उसकी व्याप्ति इन सबके साथ नहीं है। प्रकरण मूलमें यह चल रहा था कि सम्यग्दृष्टि जीवके ज्ञानचेतना है। तो जैसे अन्य ज्ञानोंमें संक्रान्ति होती है, अर्थसे अर्थान्तर रूप संक्रमण करते हैं उसी प्रकार ज्ञानचेतनामें भी संक्रमण होगा, क्योंकि यह भी तो एक मतिज्ञानका प्रकार बन रहा है। उसके उत्तरमें बात कहते-कहते यहाँ तक समझाना पड़ा कि देखो उपयोगकी बात अलग है, ज्ञानचेतनाकी बात अलग है, लब्धिरूप ज्ञानचेतनासे यह सारी व्यवस्था बनती रहती है उत्कर्षकी। उपयोग तो उसके होता है और उपयोग कारण है, एक साधन है, उपाय है कि स्वोपयोगी रहेंगे तो उसमें हम ज्ञानचेतनामें ही और उत्कर्ष पा लेंगे, लेकिन स्वरूपतः देखा जाय तो जो योग्यता है उससे काम बन रहा। उसी प्रकरणमें प्रश्नोत्तर होते-होते यहाँ यह बताया गया कि रागादिक तो भिन्न पदार्थ हैं और उपयोग-उपयोग एक ज्ञान द्वारा प्रतिभासन करना, उपयोग करना यह स्वरूप है, सो वह रागादिकसे भिन्न है।

अस्ति स्वहेतुको रागो ज्ञानं चास्ति स्वहेतुकम्।
दूरे स्वरूपभेदत्वादेकार्थत्वं कुतोऽनयोः ॥८८५॥

राग और ज्ञानमें एकार्थता न होनेका कारण— रागका कारण भिन्न है, उपयोगका कारण भिन्न है तब राग और उपयोगकी समव्याप्ति कैसे बनायी जाय? राग अपने कारणसे होता है, उपयोग अपने कारणसे होता है। राग और ज्ञान इन दोनोंमें स्वरूप भेद है। दोनोंका एक अर्थ है। जैसे मीठा, रूखा, अनेक प्रकारका भोजन आपके सामने है, पर विवेक करके उसका अलग-अलग स्वाद ले लेंगे, विवेककी बात कह रहे हैं। वहाँ जुदा-जुदा स्वाद ले लें लोग, किन्तु हाथीका एक दृष्टान्त देते हैं। जैसे हाथीके सामने घास डाल दो, हलुवा डाल दो या और कोई मिठाई डाल दो, रोटी डाल दो तो वह उन सभी चीजोंको एकमें ही लपेटकर एक साथ खा जायगा, वह उनका अलग-अलग स्वाद न ले सकेगा। यों ही समझिये कि आत्माके आहारके लिए, अनुभवनके लिए दो चीजें हैं—राग और ज्ञान। अब ज्ञानी पुरुष तो रागका रागरूप और ज्ञानका ज्ञानरूप परख कर लेते हैं। वह दोनोंमें हित अहितका निर्णय कर लेगा। एक साथ दोनों धारायें चलनेपर भी उनके स्वरूपभेदको समझ लेगा, पर अज्ञानी जीव उपयोग और रागके स्वरूपका ज्ञान न कर सकेगा, उसके लिए क्या राग और क्या ज्ञान? जो भी एक पर्याय गुजर रही है उसमें ही अपने स्वरूपकी बुद्धि रख रहा है। भेदविज्ञानमें यह बहुत उपयोगी बात है समझनेके लिए। आत्मामें जो रागधारा, ज्ञानधारा चल रही है और चल रही हैं दोनों एक साथ। राग भी काम कर रहा और ज्ञान भी काम कर रहा, मगर ज्ञानका काम कितना है? प्रतिभासना और रागका काम कितना है? वही रज्यमाणता। एक बल्बके ऊपर हरा कागज लगा दिया, अब उसमें जो प्रकाश चल रहा वह बात

तो एक चल रही है, वहाँ मगर उस प्रकाशको देखकर विवेकी क्या यह ज्ञान नहीं कर सकता कि उस बिजलीके बल्बका, उस प्रकाशनका काम तो प्रकाशन मात्र है जिसमें कि कुछ देखा जाय, पर जो यह हरा-हरा हो रहा वह बल्बका, बिजलीका प्रकाशनका कार्य नहीं है। यह तो किसी हरी-भरी चीजकी उपाधिका काम है। चलो यह तो कागज लगेकी बात है। बल्ब भी आप रंगीन ले आये और उसमें भी जो प्रकाश होगा उसमें भी तो यह भेद पड़ा है कि दोनोंका काम तो प्रकाशना है, यह हरापन नहीं है। ऐसे ही समझिये कि जीवमें जो कुछ बात इस समय चल रही है उसमें जो प्रतिभासन है वह तो उपयोगका काम है और विकार, आकुलता, वासना आदिक जो कुछ भी बातें साथमें लग रही हैं, यह उपयोगका कार्य नहीं है। यह रागद्वेषादिक भावोंका कार्य है। ऐसे दो भेद ध्यानमें आये। उन्हें अपने आपके विषयमें घटित करें। जो बात चल रही है उसमें जो विकल्पांश है, ज्ञेयांश है, सुख-दुःख, आकुलता, व्यग्रता आदिक जो कुछ कार्य है वह सब रागद्वेषादिक भावोंका विकार है। ज्ञानका कार्य तो प्रतिभासना है। ज्ञान तो मेरे गुणमें है। राग मेरे गुणमें नहीं है। तो प्रतिभासन तो मेरा कार्य है, पर आकुलता सुख दुःख रागद्वेष ये मेरे कार्य नहीं हैं। वह प्रतिभासन तो मेरी करतूत है, मेरी चीज है। ये रागद्वेष मेरी चीज नहीं हैं। प्रतिभासन मेरे अनर्थके लिए हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह मेरा तत्त्व है, मेरा कर्तव्य है। लेकिन रागादिक भाव तो अनर्थके लिए ही होगा, क्योंकि यह परभाव है, औपाधिक भाव है, मेरे स्वरूपकी चीज नहीं। ये तो मैल कहलायेंगे ही। परभाव, परद्रव्यका सम्बंध होनेका नाम मैल है। चाहे वह सफेद चिकनी बढ़िया चीज दूसरेमें लगी हो तो वह दूसरे पदार्थके लिए मैल ही है। जैसे यहाँ मनुष्य इन गाय, भैंस, घोड़ा आदिको देखकर ऐसा समझते हैं कि ये कुछ नहीं है, उनमें कुछ ऐसी खास बुद्धि नहीं जगती, ये मेरे लिए कोई खास रागके लायक उपयोगी नहीं हैं, इन्द्रिय विषयोंके उपयोगी नहीं हैं, ऐसे ही गाय-बैल आदिक इन आदमियोंको देखकर समझते होंगे कि ये कैसी अटपट चीजें हैं. कैसा ये दो टाँगोंसे खड़े हैं, कैसा सीधे चल रहे हैं, ये तो सब बड़े अटपटसे लग रहे हैं, ऐसा अटपट क्या उन गाय, भैंस आदिक पशुओंको न लगता होगा? तो अपने लिए परका सम्पर्क मैल ही है। चाहे वह बढ़िया हो, घटिया हो उस वस्तुके लिए ये समस्त पर मैल हैं। इसी तरह मुझ आत्मवस्तुके लिए ये समस्त रागादिक भाव मैल हैं और उपयोग यह ज्ञान प्रतिभास, यह जानन यह मेरा गुण है, मेरी चीज है। सूक्ष्मदृष्टिसे वहाँपर भी भेद आयगा। यह इन्द्रियज ज्ञान मेरे लिए मैल है, मेरा स्वरूप नहीं है। पर थोड़ा एक स्वके विकाससे हुआ है, इस दृष्टिमें कहा जाता है। तो रागके भिन्न कारण हैं, ज्ञानके भिन्न कारण हैं। स्वरूपभेद है, विधिभेद है। ज्ञान परचीजके हटनेसे हुआ, ज्ञान परचीजके आनेसे हुआ। तो जहाँ ये सारे भेद प्रतिपक्ष रूपसे चलते हों वहाँ राग और ज्ञानको एक कैसे कहा जा

सकता है ?

किञ्च ज्ञानं भवदेव भवतीदं न चापरम् ।
रागादयो भवन्तश्च भवन्त्येते न चिद्यथा ।।८८६।।

ज्ञानमें ज्ञानरूपताकी व रागादिमें रागादिरूपताकी ही उद्भूति—होता हुआ ज्ञान ही होता है, अन्य कुछ नहीं होता। होते हुए रागादिक रागादिक ही होते हैं, वह ज्ञान नहीं होता। ज्ञान और रागके स्वरूपका प्रकर्ष भेदविज्ञानका संकेत कराने वाला यह श्लोक है। जैसे क्रोधमें क्या होता है ? तो कहेंगे गुस्सा। उसका नाम क्रोधन रखा है। क्रोधमें क्रोधन होता है, क्रोधमें जानन नहीं होता है। जाननका स्वरूप और है, गुस्साका स्वरूप और है। यहाँ यह मोटी बात नहीं कह रहे हैं कि गुस्सामें ज्ञान सही नहीं रहता और इसी कारण नहीं कह रहे हैं कि गुस्सामें जाननस्वरूप नहीं है। स्वरूपकी बात कह रहे हैं। चाहे वह अल्प भी क्रोध हो, जहाँ ज्ञानका बिगाड़ नहीं मालूम होता वहाँ भी क्रोधमें ज्ञान नहीं, क्रोधमें क्रोधन है, ज्ञान में ज्ञान है। जैसे मिला हुआ दूध और पानी एक गिलासमें रखा हो तो भी वहाँ कहा जायगा कि दूधमें दूध है, पानीमें पानी है। इस बातको कुछ लोग समझेंगे नहीं और कुछ लोग समझ जायेंगे तिसपर भी यह मोटा दृष्टान्त है। यहां तो दूधके अणु-अणु अलग हैं, समझदार लोग यहां खूब जान सकते हैं, लेकिन यहां आत्मामें जो एक अमूर्त आत्माका भावस्वरूप है उसमें जब देखा तब एक परिणमन है। मिले हुए दूध पानीमें तो दो-दो परिणमन अब भी चल रहे है। दूधमें दूध है, पानीमें पानी है, लेकिन जहां एक परिणमन हुआ आत्माका एक समयमें उस एक परिणमनमें ही छटनी की जा रही है। जैसे कि आजकल वैज्ञानिक लोग एक ही पदार्थमें इनर्जियोंकी छटनी करते हैं। और इनर्जीसे भिन्न-भिन्न रूपमें पृथक् करके प्रयोग करते हैं। और उनकी दृष्टिमें वहां इनर्जी एक अलग तत्त्व या पदार्थ होता है तथा वहां वे उसे पदार्थ ही कह देते हैं। जैसे एक पदार्थमें आजके वैज्ञानिक लोग इनर्जीके इतने भेद बनाते हैं, इसी तरह आत्माका वह एक परिणमन है। जो भी एम समयमें, उस एक परिणमनमें भी भेदविज्ञानके बलसे यहां-वहां भेद चल रहा है कि वह जो एक परिणमन है, मिश्र परिणमन है, वहां जो क्रोधभाव है उसमें क्रोध ही है। जानन भाव है उसमें जानन ही है।

कुछ उदाहरणोंको बताकर रागमें जाननके अभावकी व ज्ञानमें रज्यताके अभावकी सिद्धि—कल या परसों एक दृष्टान्त दिया था कि हरा बल्ब लगानेसे हरा प्रकाश हुआ तिसपर भी प्रकाशमें हरापन नहीं है और हरे रंगमें प्रकाश नहीं है, प्रकाशमें प्रकाशन है, हरेमें हरा ही है। यह बात जैसे कुछ कठिनाईसे समझी जाती है उससे भी अधिक कठिनाई हो रही होगी इस बातके समझनेमें कि होते हुए ज्ञानमें ज्ञान ही हो रहा है और होते हुए रागमें रागादिक ही हो रहे हैं, और स्वरूपका परिचय करने वाले इसको इस तरह स्पष्ट समझ रहे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

होंगे कि जैसे किसी कार्डमें दो वृक्ष बनाये गए हों और उनकी बनावटमें बीचमें आदमी दिख जाय, चिड़िया दिख जाय, है नहीं चिड़िया, है नहीं आदमी, मगर वृक्षकी बनावट ऐसी की जाती है कि जिससे वहाँ पता कर लेते हैं। जिसको परिचय हो गया वह कार्य देखकर सीधा देख लेता है कि यह है वह चिड़िया। इसी तरह स्वरूपभेदके परिचयके लिए ज्ञानी संत पुरुष स्पष्ट समझता है, रागसे तो रज्जन है और ज्ञानमें जानन है और युक्तियोंसे समझना चाहें तो युक्तियां ये हैं कि रागादिक अपने कारणसे होते हैं, ज्ञान अपने कारणसे होता है। इसे भी अगर उपादानसे देखें तो सूक्ष्म बात यह आयी कि राग रज्जनपरिणतिसे होता है और ज्ञान जाननपरिणतिसे होता है, पर इसके अन्य कारण देखो, भिन्न कारण देखो—जिसके साथ अन्वयव्यतिरेक बनता है तो कारण बताया जायगा कि रागादिक होते हैं मोहके उदयका निमित्त पाकर, ज्ञान हो रहा यहां ज्ञानावरणके क्षयोपशमका निमित्त पाकर, तो कारणभेद है तो वहां स्वरूपभेद भी है। ज्ञान आत्माके स्वयंके स्वरूपका विकास है, चाहे वह कितना ही विकास हो और राग औपाधिक भाव है, स्वरूपका विकास नहीं, बल्कि स्वरूपका बाधक है, घातक है। तो यों रागमें और ज्ञानमें ऐसा भेद पाया जाता है।

अभिज्ञानं च तत्रास्ति वर्द्धमाने चिति स्फुटम्।
रागादीनामभिवृद्धिर्न स्याद् व्याप्तेरसंभवात् ॥८८७॥

ज्ञानवृद्धि व रागवृद्धिमें परस्पर व्याप्ति न होनेसे स्वरूपभेदकी स्पष्टता—यहां प्रकरण यह चल रहा है कि ज्ञान और रागकी व्याप्ति नहीं है। उपयोगकी और रागादिककी व्याप्ति नहीं है, क्योंकि ज्ञानकी वृद्धि होनेपर रागादिक बढ़ जायें, ऐसी बात नहीं बनती, इससे व्याप्ति न कहेंगे। ज्ञानकी वृद्धिसे रागकी वृद्धिका सम्बंध नहीं है। तो ज्ञानमें और उपयोगमें कैसे एकत्व कहा जाय और कैसे फिर रागका कारण ज्ञानको कहा जाय? ज्ञानका कारण रागको कहा जाय, यह कैसे सम्भव हो सकता? स्वतंत्र है वह परिणमन। अब भेददृष्टिसे देखो और अन्तर्दृष्टि करके देखो तो रागका परिणमन रागके कारणसे होता, ज्ञानका परिणमन ज्ञानके कारणसे होता। यहां बाह्य कारणकी बात नहीं कह रहे, अभिन्न साधकताकी बात कही जा रही है।

स्याद्वादके अनाश्रयणसे वस्तुस्वरूपप्रतिपादनकी अयुक्तता—स्याद्वादका सहारा छोड़ दे तो यह कथन युक्त न बन पायगा। हुआ तो यही ना, स्याद्वादका सहारा छोड़ें तब ही तो क्षणिकवादियोंका स्वलक्षण स्वरूप हो गया। क्षणिकवादके सिद्धान्तमें केवल कालकी ही बात नहीं है कि क्षण-क्षणमें पर्याय जो नई-नई होती हैं उनको ही मात्र पूर्ण द्रव्य माना, किन्तु द्रव्यसे विभिन्न अविभागी तत्त्वको स्वलक्षण कहा है, क्षेत्रसे विभक्त अविभागी तत्त्वको स्वलक्षण कहा है, भावसे विभक्त अविभागी तत्त्वको स्वलक्षण कहा है, मगर कालके स्वलक्षणकी प्रसिद्धि

अधिक है। एक-एक अणु द्रव्य है इतना तक भी रखते चित्तमें बात, स्कंध कुछ नहीं, समुदाय कुछ नहीं। एक-एक अणु ही वास्तविक है, तो बात निभ जाती, लेकिन उस एक अणुमें भी रूप, रस, गंध, स्पर्श पाये जाते हैं सो उनका अणु रूपाणु है, रसाणु है, वह है पूरा द्रव्य। लो यों द्रव्यमें भी विभक्त करके कल्पित अविभागीको द्रव्य मानते हैं। कोई अणु रूप, रस, गंध, स्पर्श वाला नहीं है क्षणिक सिद्धान्तमें, किन्तु रूपाणु, नीलक्षण, रसपरमाणु, गंधपरमाणु इत्यादि ये हैं स्वतंत्र-स्वतंत्र वस्तु। द्रव्यमें तो वह इतना बढ़ गया और क्षेत्रमें प्रत्येक क्षेत्र, प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक वस्तु, बस एकप्रदेशात्मक ही है यहां अवयवी कुछ नहीं, ज्यादा प्रदेश किसीमें हो ही नहीं सकता। एक समयमें ही है, दूसरे समयमें वह है ही नहीं, कालने यह ज्ञात किया और भावमें बस वह तो स्वलक्षणमात्र है। जो उसका लक्षण है सो है। अरे तो बताओ तो कुछ, अरे बताओ तो स्वलक्षण। अरे बताऊँगा तो वह स्वलक्षण न कहा जा सकेगा, उसमें बहुत बातें आ जायेंगी। देखा ना, यह भी तो एक प्रकारका परिचय है जिसकी झांकी आपको कई जगह मिलेगी जैनशासनमें। सम्यक्त्वका क्या लक्षण है? आप कह सकते हैं कि वह तो स्वलक्षणमात्र है। श्रद्धा करना सम्यक्त्व नहीं, श्रद्धा तो ज्ञानका परिणमन हुआ, प्रतीति करना? नहीं। प्रशम होना?…नहीं, वह तो मिथ्यादृष्टिमें भी हो सकता है। वहां तो सम्यक्त्वके वर्णनके लोभसे कह देते हैं, वह प्रशमाभास है। उससे क्या प्रतिभासमें आया? तो क्या है सम्यक्त्वका लक्षण? सुलक्षणमात्र। इसकी खेंच की गई है क्षणिकवादमें कि प्रत्येक पदार्थ स्वलक्षणमात्र है। तब पदार्थ रसाणु है, रूपाणु आदि है, एक समयवर्ती है, तब उसमें और कहनेको क्या गुंजाइश है? वह तो स्वलक्षण मात्र है। तो ऐसे ही यह समझिये कि स्याद्वादका सहारा अगर छोड़ दें—आत्मा एक अखण्ड पदार्थ है, आत्माका वह एक परिणमन है—यह भी तो एक दृष्टि है, उसे अगर छोड़ दें तो यह भी गीत गाते रहें—राग अपने परिणमनसे होता, ज्ञान अपने परिणमनसे होता तो यह क्या है? जुदे-जुदे पदार्थ बन गए और इसमें स्वतंत्रतया उत्पादव्ययध्रौव्य आ गया फिर।

प्रत्येक नयोंमें शिक्षकता—देखो नयचक्रके जाने बिना बोधमें यथार्थता न आ सकी। तो नयचक्रका पार पाना यद्यपि कठिन है, लेकिन जो पार पा जाते हैं उनके लिए तत्त्वज्ञान करना कौतूहल मात्र हो जाता है। जो लोग विवाद करते हैं वे व्यर्थ करते हैं। बहुत विवाद का तो वहां कोई काम नहीं, प्रत्येक नयसे आप स्वरूपदृष्टिकी शिक्षा ले सकते हैं—निश्चयनय से लें, व्यवहारनयसे लें, उपचारनयसे लें, एक कंडम नय बताया गया है उपचरितोपचरित-असद्भूतव्यवहारनय, और उसका विषय बताया गया कि यह कहना कि धन वैभव, मकान आदिक मेरे हैं। यह किस नयसे कहा? उपचरितोपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे तो नयको तो समझ लो पहिले, शिक्षा मिल जायगी। वह नय यह कहता है कि जहां कोई सम्बंध ही

नहीं है, अत्यन्त अभाव वाली बात है, बल्कि असत् बात है और उसमें सम्बंध बनाये तो कहते हैं कि यह उपचरित असद्भूतव्यवहारनय है। लो शिक्षा मिल गई। नयका स्वरूप जानते ही तत्त्वज्ञान बन गया। तो हम ऐसे विषयोंसे भी शिक्षा ले सकते हैं। तो निश्चय व्यवहार सद्भूत व्यवहार आदिक। इनसे क्या शिक्षा मिलती है? निश्चयनय एक द्रव्यस्वभावपर पहुंचाता है और यों स्वभावदृष्टिमें मददगार बनता रहता है। तो व्यवहारनय निषेध का संकेत देकर आपको स्वभावदृष्टिपर पहुंचा रहा है। ये रागादिक भाव कर्मके हैं, यह कथन कोई तो व्यवहारसे बताते और कोई निश्चयसे भी बता देते हैं। व्यवहारसे बताया, उसका तो प्रयोजन यह है कि एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यसे वास्ता बताया और निश्चयसे बताया कि पौद्गलिक हैं ये रागादिक तो उनकी दृष्टि यह मिली कि देखो इस ज्ञानने स्वभावको सुरक्षित बना लिया, स्वभावपर आंच नहीं आने दिया। तो जब कुछ शिक्षा न ले सके, और कषायभाव है सो वहाँ विसम्वाद बन जाता है। तो स्याद्वादका सहारा छोड़कर चित्त समाधानरूप नहीं रह सकता। तो जो भी उसे शरण हुआ उस शरणको उस दृष्टिके अनुसार समझना चाहिए। यहां प्रकरण यह चल रहा है कि उपयोगकी और रागादिकको व्याप्ति नहीं है, इसलिए उपयोग न तो भलेका कारण है, न बुरेका कारण है। उपयोगका जाननस्वरूप है प्रतिभासन मात्र, इतनी दृष्टिमें लेकर बात समझें तो यह बात सुयुक्त होती है।

वर्द्धमानेषु चैतेषु वृद्धिर्ज्ञानस्य न क्वचित्।
अस्ति यद्वा स्वसामग्र्यां सत्यां वृद्धिः समा द्वयोः ॥८८८॥

रागवृद्धिसे ज्ञानवृद्धिका असम्बन्ध — उक्त छन्दमें बताया था कि ज्ञानकी वृद्धिमें राग की वृद्धि नहीं होती, इसलिए परस्पर व्याप्ति नहीं है। इस छन्दमें बतला रहे हैं कि रागादिक की वृद्धिमें ज्ञानकी वृद्धि नहीं होती, इसलिए व्याप्ति नहीं है। राग बढ़े तो ज्ञान बढ़े, ऐसी व्याप्ति नहीं है। अपनी-अपनी सामग्री मिलनेपर अपनी-अपनी वृद्धि होती है। एक साथ भी बढ़ जाय, किसी पुरुषमें राग भी बढ़ गया, ज्ञान भी बढ़ गया। यद्यपि यह सीमातोड़ बात न निभेगी कि पूरा राग हो जाय और पूरा केवल ज्ञान हो जाय, मगर जैसे प्रायः देखते हैं कि कोई विद्यावान है, बड़ा जानकार है और बड़ा कषायवान भी है, राग भी बहुत बड़ा है और ज्ञान भी बहुत बड़ा है जितनेको यहाँ लोग समझते हैं। तो देखो बन तो गया कि राग भी बढ़ा, और ज्ञान भी बढ़ा। अलंकारसे कहो कि किसी विद्वानमें राग और ज्ञान इन दोनोंकी होड़ लग रही है। तो ऐसी स्थिति जहां होती उसे निरख करके आप देखें तो यह कहेंगे कि हाँ बढ़ तो गए दोनों, मगर वे व्याप्तिके कारण नहीं बढ़े। राग बढ़े तो ज्ञान बढ़े, ऐसी व्याप्ति के कारण नहीं बढ़े। राग बढ़नेके कारण और हैं, ज्ञान बढ़नेके कारण और हैं। रागादिककी वृद्धिमें ज्ञानकी वृद्धि नहीं है। तो यहां भी ज्ञानमें और रागमें व्याप्ति नहीं है।

http://sahjanandvarnishastra.org/

ज्ञानेऽथ वर्धमानेपि हेतोः प्रतिपक्षक्षयात् ।
रागादीनां न हानिः स्याद्धेतोर्मोहोदयात्सतः ।।८८६।।

ज्ञानवृद्धि व रागादिवृद्धिके कारणोंकी भिन्नताका विवेचन—ज्ञान कहीं बढ़ रहा है, क्यों बढ़ रहा है ? ज्ञानका आवरक जो कर्म है उसका अभाव हो रहा है, तो ज्ञान बढ़ रहा हो, इतनेपर भी अगर मोहका उदय है तो रागकी हानि नहीं देखी जाती । पूर्व छन्दके वर्णन का इसमें समर्थन किया जा रहा है । किसी जीवके मोहका उदय है तो राग कैसे कम होगा ? राग भी बढ़ रहा और ज्ञानावरणका अभाव भी चल रहा है, क्षयोपशम विशेष चल रहा है तो ज्ञान भी बढ़ रहा, तो कारण इसके अलग-अलग हैं, ज्ञानावंरणके क्षयोपशमसे ज्ञानकी वृद्धि है और मोहके उदयसे रागादिककी वृद्धि कह लो अथवा हानिका अभाव कह लो तो ऐसा राग और ज्ञान ये भिन्न-भिन्न चीजें हैं, इनमें व्याप्ति नहीं बनती । इस प्रकरणसे हमें शिक्षा क्या मिलती है कि हम यहाँ यह अनुभव करें कि जिससे ये रागद्वेष भाव इन भावोंमें ही रह रहे हैं, इनका मेरे ज्ञानसे सम्बंध नहीं है । ज्ञानमें तो जानन ही है, मैं तो ज्ञानस्वरूप हूं । मैं तो जाननरूप ही रहता हुआ रहूं, ऐसा रागमें और ज्ञानमें भेद समझ करके रागसे हटकर ज्ञानमें लगनेका पौरुष बनना है ।

यद्वा दैवात्तत्सामग्र्यां सत्यां हानिः समं द्वयोः ।
आत्मीयाऽऽत्मीयहेतोर्या ज्ञेया नान्योन्यहेतुतः ।।८९०।।

किसीमें रागहानि व ज्ञानहानि एकसमयमें होनेपर भी उन दोनोंके कारणोंका पार्थक्य—उक्त दो श्लोकोंमें यह बताया है कि ज्ञानकी वृद्धिमें रागकी वृद्धि नहीं, रागकी वृद्धिमें ज्ञानकी वृद्धि नहीं, इस कारणसे इसमें व्याप्ति नहीं बनती और अब बतला रहे हैं कि जैसे उक्त छंदमें यह भी कहा था कि कदाचित् राग बढ़े, ज्ञान बढ़े, दोनों एक साथ हो जायें तो भी उनके कारण न्यारे-न्यारे हैं । इसी तरह दैववश रागकी हानि व ज्ञानकी हानि दोनों ही हो जायें एक साथ तो भी यह हानि अपने-अपने कारणसे है । इसमें भी व्याप्ति नहीं है । इस विषयको भी एक मध्यम रूपसे देखना होगा । यहाँ लोकमें देखते जाइये किसी-में कि ज्ञान तो नहीं है ज्यादा, मगर कषाय भी नहीं है ज्यादा, शान्त हैं, सीधे हैं और ज्ञान नहीं है तो देखो उस पुरुषमें ज्ञानकी हानि देखी गई और रागकी भी हानि देखी गई तो ऐसी हानि देखी जानेपर भी उनमें व्याप्ति न मान लेना कि रागमें और उपयोगमें व्याप्ति है । यह हानि तो अपने-अपने कारणसे हुई है । मोहका उदय तीव्र नहीं है, रागकी हानि है, ज्ञानावरण का क्षयोपशम नहीं है तो ज्ञानकी हानि है । यहां भी कारण दो हैं—और स्वरूपमें भी ज्ञान में अपने ज्ञानस्वरूपमें हानि होती है, रागमें अपने राग स्वरूपसे हानि हो रही है, तो हानि दोनोंकी हुई । वहाँपर भी ये कारण-कार्य भाव न बताये जा सकेंगे कि उपयोगके कारण रागमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

हानि-वृद्धि है और जिससे फिर ज्ञानचेतनाका महत्त्व मिटाया जाय। यह सब न मानना, उपयोगसे सब कुछ मानना, यह सब ज्ञानचेतनाके महत्त्वको मिटाने वाली बातें हैं। तो यहां तक यह सिद्ध किया गया कि सम्यग्दृष्टि उसके अन्दर योग्यता है, उपयोग चाहे आत्मपदार्थको जान रहा हो, उपयोग चाहे परपदार्थको जान रहा हो। जिस आत्मामें सम्यक्त्व जगा है, अनन्तानुबंधी कषायका अभाव हुआ है उस जीवके जो सम्वर निर्जरा है। जो गुण हैं वे होते ही हैं। उनमें विघात परोपयोगके कारणसे नहीं है।

व्याप्तिर्वा नोपयोगस्य द्रव्यमोहेन कर्मणा।
रागादीनान्तु व्याप्तिः स्यात् संविदावरणैः सह ॥८६१॥

उपयोगकी द्रव्यकर्मके साथ भी व्याप्तिका अभाव—अब तक जो वर्णन आया है वह उपयोगके सामने अनेक आत्मभावोंको रखकर वर्णन किया है। उपयोगकी सम्वर निर्जरामें व्याप्ति नहीं, उपयोगकी रागादिक भावोंके व्याप्ति नहीं और उसी प्रसंगमें कर्मबन्धकी भी बात कही। अब यहां कह रहे हैं कि जैसे रागादिक भावोंके साथ उपयोगकी व्याप्ति नहीं है उसी प्रकार द्रव्य मोहके साथ भी उपयोगकी व्याप्ति नहीं है। द्रव्यमोह याने मोहनीयकर्म तथा द्रव्यमोह क्या? मोहकर्ममें, उदयावस्थामें जो उसमें परिणति होती है मोहन वह भी द्रव्यमोह है। जैसे जीवमें क्रोध, मान परिणति होती है इसी तरह उन प्रकृतियोंमें भी क्रोधन आदिक परिणतियाँ होती हैं. लेकिन वह क्रोधन परिणमन उनके माफिक है। जीवमें क्रोधन जीवके ढंगके हैं। कर्मको उनका अनुभवन नहीं, ज्ञान नहीं। कर्म है, जड़ है, हुआ जो सो वह हुआ। हुआ अवश्य, नहीं तो विपाक किसका नाम है? वह भी द्रव्यमोह है। तो इस उपयोग की व्याप्ति द्रव्यमोहके व कर्मकी किसी भी परिणति और स्थितिके साथ नहीं है। स्वरूपभेद होनेसे उपयोगमें उपयोग है, द्रव्यमोहमें द्रव्यमोह है, उसके साथ व्याप्ति नहीं है। इसी वर्णन को जब बड़ी भेददृष्टिपूर्वक सुना जाता है तो उसे प्रदेशभेद जैसा दिखने लगता है और उसी स्थितिमें यह अवधारण बनता है कि ज्ञानमें और रागमें प्रदेशभेद है, एकपना कैसे हो सकता है? तो इस प्रकार इस उपयोगका इन रागादिक भावोंके साथ, रागादिक भावोंके कारणभूत प्रक्रियाके साथ व्याप्ति नहीं है। उपयोग उपयोग है, राग राग है। देखिये—यहां भेदविज्ञान के चरम छटा समझ लीजिए, भेदविज्ञानकी एक उत्कृष्ट पद्धति समझ लीजिए। जिसने अपने आपके भीतर राग और ज्ञानमें भेद डाला है भेदज्ञानी वह है। यों तो गांवोंमें लोग भी कहते रहते हैं कि आदमी मर गया, मिट्टी यहां रह गयी, जीव चला गया, इतने मात्रसे क्या वे भेद-ज्ञानी हैं। हम आप कहते रहते हैं कि शरीर न्यारा है, जीव न्यारा है, कर्म न्यारे हैं. जीव न्यारा है और ये रागादिक भाव निराले हैं, यह मैं उपयोग स्वरूप ज्ञानस्वभाव यह मैं निराला हूं। यहाँ जिसने भेद किया और भेद सचमुच किया उसका चिह्न यह है कि उन

http://sahjanandvarnishastra.org/

विभावोंसे उपेक्षा, निवृत्ति अवश्य होती है। तो ऐसे उन रागादिककी निवृत्तिके साथ अविनाभाव रखने वाला जो ज्ञान है, ऐसा भेदज्ञान जिसके हुआ है ज्ञानी पुरुष वह है और ऐसे ज्ञानी को लोकमें फिर कोई लगाव नहीं रहता। इस तरह यह सिद्ध किया गया कि उपयोगकी व्याप्ति द्रव्यमोहके साथ भी नहीं, भावमोहके साथ भी नहीं, किन्तु एक जिज्ञासा हो सकती है कि रागादिककी व्याप्ति ज्ञानावरणके साथ तो होगी। अब उस जिज्ञासाका समाधान सुनिये।

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेषा स्याद्विषमैव तु।
न स्यात् क्रमात्तथाव्याप्तिर्हेतोरन्यतरादपि ॥८६२॥

ज्ञानावरणादिके साथ रागादिकी समव्याप्ति न रहनेका समर्थन—जीवकी जब मोहमय अवस्था होती है तब उसके लिए अन्दर बिल्कुल अंधेरा है और बाहर जो कुछ समझते हैं तो वह सब स्वप्न अथवा उन्मत्त जैसी चेष्टा है। जैसा नहीं है वैसा समझता है। देहको मानता है कि यह मैं हूँ, इन्द्रियको मानता है कि ये मेरे सुखके साधन हैं, विषयसुखोंको मानता है कि ये मेरी विभूतियाँ हैं, किन्तु जब सम्यक्त्वका अभ्युदय होता है उस समय इसको अपने अनन्तकाल तककी भूलका कुछ पछतावा आता है। अहो, मैंने व्यर्थ ही भ्रम ही भ्रममें अब तक अनन्त भव बिताये, क्लेश ही क्लेश सहा, जन्ममरणके संकट सहे। अहो, मेरे आत्माका स्वरूप तो आनन्दमय है। यहाँ कष्टका क्या काम ? मैं अमूर्त हूं, ज्ञानज्योतिस्वरूप हूं। इसमें आकुलता कहाँ पड़ी है ? आकुलता तो भ्रमसे बतायी है। तो जिस जीवके सम्यक्त्वका अभ्युदय होता है उसके अन्तः अनाकुलता वर्तती है। ऐसे जीवकी यहाँ चर्चा चला रहे हैं कि देखो इस सम्यग्दृष्टि जीवके भीतरमें ज्ञानचेतना तो जग गई, अब कोई भी बाह्य पदार्थ इसको लुभा नहीं सकता, मोहित नहीं कर सकता। फिर भी यह तो सम्भव ही है कि इस ज्ञानीका उपयोग कभी आत्माको जाननेमें भी लगता तो कभी परद्रव्यको जाननेमें भी लगता, किन्तु यहाँ ग्रन्थकार यह बतला रहे हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव परपदार्थको भी जाने तो भी उससे गुणोंमें हानि नहीं आती और स्वको जाने तो उससे कहीं लब्धि और योग्यतासे आगेका गुणोत्कर्ष नहीं बनता। इसी प्रसंगमें बहुत कुछ चर्चा होनेके बाद अब यह बतलाया जा रहा है कि देखो—रागादिक दोष होते हैं तो मोहके उदयसे होते हैं और ज्ञान जो हो रहा है वह ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे हो रहा है तो राग और ज्ञान इन दोनोंके कारण जुदा-जुदा हैं। यह बात तो अभी बता दी गई थी। अब यहां गुण और दोष क्या कि रागादिककी जिस ज्ञानके साथ व्याप्ति नहीं है कि ज्ञानके कारण राग हो, रागके कारण ज्ञान हो। जहां-जहां राग हो वहाँ वहाँ ज्ञान हो याने रागवृद्धिके साथ ज्ञानवृद्धि हो, यह नियम नहीं बनता और यह भी नियम न बन सकेगा कि रागहानिके साथ ज्ञानहानि हो। अब यहां यह बतला रहे हैं कि रागादिककी ज्ञानावरणके साथ भी व्याप्ति नहीं है, याने जहाँ रागादिककी वृद्धि हो वहां ज्ञानावरणकी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

वृद्धि हो, जहां ज्ञानावरणकी वृद्धि हो वहां रागादिककी वृद्धि हो, यह भी व्याप्ति नियमतः नहीं बनती, यह सब बताया जा रहा है एक साधारण लोगोंमें जैसा देखा जाता है उसके अनुसार। तो इन दोनोंमें भी समव्याप्ति नहीं है, इसीको सिद्ध करेंगे।

व्याप्तेरसिद्धिः साध्यात्र साधनं व्यभिचारिता।
सैकस्मिन्नपि सत्यन्यो न स्यात्स्याद्वा स्वहेतुतः ॥८६३॥

व्यभिचारिता होनेसे व्याप्तिकी असिद्धिकी सिद्धि—जहां व्यभिचार पाया जाय, एक के होनेपर दूसरा न हो तो वहां समव्याप्ति नहीं बना करती। तो समव्याप्ति नहीं है, इसका हेतु है कि व्यभिचार देखा जाता है। यदि रागादिक और ज्ञानावरण कर्म इनमें समव्याप्ति मानी जाय तो व्यभिचार दोष आता कि देखो—ज्ञानावरण कर्मके रहनेपर रागादिक नहीं भी रहते हैं। करणानुयोगकी दृष्टिसे १०वें गुणस्थानसे ऊपर १२वें गुणस्थानमें ज्ञानावरण तो है, पर रागादिक नहीं हैं। और यहां लोकमें भी ऐसा देखा जाता है कि जो जीव ज्ञानमें बढ़े तो नहीं हैं, किन्तु रागादिक उनके कम पाये जाते हैं। ज्ञानावरण कर्मके रहनेपर रागादिक भाव नहीं होते और होते हैं, लेकिन वे अपने कारणसे होते हैं। कारण उनका जुदा-जुदा है, इस कारण समव्याप्ति नहीं है। बात यहां यह समझना संक्षेपमें कि हम और आप लोगोंका कल्याण बन सकेगा तो आन्तरिक स्वच्छतासे ही कल्याण बनेगा। हम विद्यासे बढ़ जायें इतने से हममें कल्याणकी बात न आ जायगी। विद्या तो एक शिक्षा है, लौकिक काम है, जान गए। जैसे बहुतसे विषय पढ़े जाते हैं, एक थोड़ासा धर्मकी बातोंको भी पढ़ लिया, वह यद्यपि हमारे कल्याणका कारण तो है, मगर वास्तविक कारण है तो कषायोंका अभाव। तो कषायों का अभाव हो, इसके लिए हमारा प्रयास होना चाहिए। भ्रम और कषाय—इन दो बातोंको छोड़ें। ज्ञान हमारा कम रहे उससे हम कुपथमें न हो जायेंगे, पर भ्रम रहेगा तो कुपथमें हो जायेंगे। एक छोटीसी कहानी है कि एक बुढ़ियाके दो बालक थे, एकको कम दिखता था, लेकिन सही दिखता था और एकको दिखता तो था खूब, लेकिन पीला-पीला दिखता था। बुढ़िया अपने दोनों बेटोंको वैद्यके पास ले गई। वैद्यने दोनोंको एक ही दवा दी। (बहुतसी दवायें ऐसी भी होती हैं कि जो कई रोगोंको दूर करती हैं) तो वैद्यने एक ही दवा दोनोंको दी जो कि बिल्कुल सफेद थी। उस दवाको चांदीके कटोरेमें, गायके दूधमें डालकर दोनों बेटोंको दवा पीनेको वैद्यने कहा। बुढ़िया मां ने वैसा ही किया। तो जिस बेटेको कम दिखता था, मगर सही दिखता था उसने तो दवा पी लिया और जिसे तेज दिखता था, मगर पीला दिखता था उसने दवा पीनेसे इन्कार कर दिया। बोला कि अरी मां क्या मैं ही तेरा दुश्मन हुआ ? अरे मुझे पीतलके गिलासमें, गायके मूत्रमें, यह क्या विष जैसा मिलाकर दिया ? उसे तो पीला ही दिखता था न, सो वे सारी सफेद चीजें उसे पीली दिखीं। तो उसने दवा न पिया

जिससे उसकी आंखें ठीक न हो सकीं, और जिसे कम दिखता था उसकी आँखें ठीक हो गईं। तो ऐसे ही ज्ञानमें चाहे थोड़ी कमी हो, लेकिन भावोंमें निर्मलता हो तो पार हो जायेंगे, यह ज्ञान भी हमारा बढ़ जायगा। और यदि भीतरमें कषायोंकी गांठ नहीं निकाल रहे हैं, भ्रम बना है तो उससे इस जीवका भला नहीं होनेका। तो गुणोत्कर्ष होता है तो वह सम्यक्त्व और चारित्रके कारण होता है। यह विषय यहाँ मुख्यतासे चल रहा है।

व्याप्तित्वं साहचर्यस्य नियमः स यथा मिथः।
सति यत्र यः स्यादेव न स्यादेवासतीह यः ॥८६४॥

व्याप्तिकी साहचर्यनियमरूपमें सिद्धि—व्याप्तिकी बात बहुत छन्दोंमें चली है, उसका यहां लक्षण बताया जा रहा कि व्याप्ति कहते हैं साहचर्यके नियमको कि जिसके होनेपर जो हो, जिसके न होनेपर जो न हो, यह उन दोनोंमें व्याप्ति कही जाती है। जैसे सम्यक्त्वमें और सम्यक्त्वके कालमें होने वाली सम्वर निर्जरामें व्याप्ति है, ऐसी सम्वर निर्जरा है वहाँ सम्यक्त्व, जहाँ सम्यक्त्व है वहाँ यह सम्वर निर्जरा है। इसका नाम हुआ समव्याप्ति, मगर रागादिकमें व उपयोगमें या ज्ञानावरणमें समव्याप्ति नहीं है, इसलिए उपयोग न रागादिको बढ़ानेका कारण है, न इसकी रागवृद्धिसे व्याप्ति है और न इस ज्ञानके उपयोगमें ज्ञानहानिसे व्याप्ति है, किन्तु जब दोनोंमें कारण अलग-अलग हैं, तो दोनोंके स्वरूप अलग-अलग हैं। तो भाई देखो जब सही भेदविज्ञानमें हम चल रहे हों तो भीतर निरख लो यहाँ रागकी धारा और ज्ञानकी धारा दोनों चल रही हैं अर्थात् ज्ञान भी चल रहा है, राग भी चल रहा है तो उसमें यह समझें कि रागका स्वरूप तो रज्जना है, और ज्ञानका स्वरूप जानना है। राग अपने रगनेके हेतुसे हुआ है और ज्ञान अपने जानन हेतुसे हुआ है। रागमें ज्ञान नहीं है, ज्ञानमें राग नहीं है, जानना काम ज्ञानमें ही बनेगा और रंगने जैसा काम रागमें ही बनेगा। इन दोनोंमें स्वरूपभेद निरखो और रागको वैभाविक जानकर, परभाव जानकर उपेक्षा करें और ज्ञानको अपना निज तत्व जानकर उसको ग्रहण करें।

मा समा रागसद्भावे नूनं बन्धस्य संभवात्।
रागादीनामसद्भावे बन्धस्याऽसंभवादपि ॥८६५॥
व्याप्तिः साविषमा सत्सु संविदावरणादिषु।
अभावाद्रागभावस्य भावाद्वाऽस्य स्वहेतुतः ॥८६६॥

ज्ञानावरणमें व रागादिभावमें व्याप्ति न होनेका युक्तिपूर्वक निर्णय—ज्ञानावरणादिक कर्मोंमें और रागादिक भावोंमें यह विषम व्याप्तिका प्रकरण चल रहा है। ज्ञानावरणादिक कर्मोंके रहनेपर रागभावका अभाव भी पाया जाय और सद्भाव भी पाया जाय, दोनों ही

Report any errors at vikasnd@gmail.com

स्थितियाँ होती हैं और इसका हेतु है कि उनका कारण अलग-अलग है। ११वें १२वें गुण-स्थानमें ज्ञानावरणका सद्भाव है, पर रागका अभाव है और नीचे ज्ञानावरणका सद्भाव है, रागका भी सद्भाव है। तो ज्ञानावरण कर्मके रहनेपर रागभाव रहे ही रहे, ऐसा नियम नहीं देखा गया, इस कारण इसमें विषमव्याप्ति है। समव्याप्ति तो तब कहलाती जब ज्ञानावरणके सद्भावमें रागादिक भाव अवश्य ही हों। देखिये—यद्यपि ऐसा कारण है कि हम राग करते हैं, ज्ञानावरण कर्म बँधता है, उसकी सत्ता रहती है, निमित्तनैमित्तिक भाव है, पर सद्भावमें व्याप्ति अन्त तक न निभ सकी कि जहाँ तक ज्ञानावरण पाया जाय वहाँ तक रागभाव मिले ही मिले। बंध होता रहता है। रागादिक भावोंके होनेपर सत्ता आ गयी, रागादिक नहीं भी रहे तो भी कर्मका आस्रव अथवा उसे बन्ध (प्रकृति प्रदेशबन्ध) कह लीजिए होता रहता है। तो इसमें बतला रहे हैं कि इन सबके स्वरूपको सही-सही जानें। रागका स्वरूप क्या है, ज्ञानावरणका क्या है, अनुभव उपयोग क्या है? सबके स्वरूपको पहिचानें और पहिचानकर करना क्या है? तो मूल बात कर्तव्यकी यह है कि अपने आपमें यह समझ लें कि यह रागभाव मेरा भाव नहीं, औपाधिक भाव है। इसका कारण जुदा है, यह मेरे कारणसे नहीं होता। एक बात यहाँ यह समझनी चाहिए कि ज्ञान जितना भी होता है हम आपको हुआ क्षयोपशम के कारणसे इस समय, लेकिन वह ज्ञान मेरे गुणका स्वरूप है, मेरे ही हेतुसे उत्पन्न हुआ है। जितना अवकाश मिला, जितना ज्ञानावरणका हटाव हुआ उतना-उतना ज्ञान बना, मगर ये रागभाव तो हटावसे नहीं होते, ये उपाधिके सद्भावसे होते हैं। तो ज्ञान मेरा स्वभाव है, राग मेरा स्वभाव नहीं है, यही बात तो पहिचानना है।

मोही जीवोंका निश्चयतः लगावका विषय विभाव—मोही जीवोंको लगाव होता है किसमें? आप कहेंगे कि मकानमें, धन-दौलत आदिमें। अरे मकान, धन-दौलत आदिमें तो किसीका लगाव हो ही नहीं सकता, चाहे कैसा ही मोही हो, किसी परपदार्थमें वह लगाव कर ही नहीं सकता। वस्तुके स्वरूपको कोई तोड़ सकता है क्या? अच्छा तो फिर उस मोहीका लगाव किसमें है? तो इसमें सत्य बात यह है कि उस मोहीका लगाव है अपनी विभाव परि-णतियोंमें। जो विकल्प उठा उस विकल्पको ही माना कि यह मैं हूं और उस विकल्पमें ही आत्मस्वरूपका अनुभव करता है, उसे तोड़ना नहीं चाहता, उससे हटना नहीं चाहता। लगाव तो निश्चयतः यहाँ है। जब यहाँ लगाव है तो लगावकी मुद्रा बनती है नोकर्मका आश्रय लेने में। तो जब इस मोह रागभावमें लगाव हुआ तो उसकी मुद्रा बनी, किसी बाह्य पदार्थको उपयोगके लेनेसे कि मकान मेरा है, धन मेरा है यह बहुत अच्छा है, इस प्रकार उन बाह्य पदार्थोंको आश्रयभूत होनेके कारण कहा जाता है कि मोहीका धन मकान आदिकमें लगाव है। अरे यहीं लगाव देखो—यहाँका लगाव तोड़ोगे तो वह लगाव टूट जायगा और यहांका

http://sahjanandvarnishastra.org/

लगाव न तोड़ोगे तो कितना ही उत्तम करो, उन बाह्य पदार्थोंका वह लगाव टूट न सकेगा। रूठ गए, गुस्सा आ गई, घर छोड़ दिया, जंगल चले गए, कहीं रहने लगे, भले ही ऐसा हो जाय, पर मोह न टूटेगा। उस ओरसे उपयोग भी हटा ले तो अन्य जगह मोह होने लगेगा। यहां भेद किए बिना हम उसकी विडम्बनाका लगाव तोड़ नहीं सकते। अपने अन्तःस्वरूपमें देखें तो मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानस्वरूप हूं, रागभाव मेरा स्वरूप नहीं है। इस रागका मैं लगाव न रखूं, इन विकल्पोंका मैं लगाव न रखूं। देखो—कोई पुरुष लोकमें यदि नामवरीका यत्न कर रहा है तो उसका लोगोंमें लगाव नहीं है। किन्हीं लोगोंसे बड़ा स्नेह भरा बर्ताव करता हो तो भी उसका लोगोंमें लगाव नहीं है। उसका लगाव अपने विकल्पमें है। तो इस विकल्प से अपना लगाव मिटे, ऐसा ज्ञान भीतर जागृत हो तब ही हम आपका कल्याण सम्भव है।

मनुष्यजीवनकी सफलताका उपाय कर लेनेका अनुरोध—देखिये यह मनुष्यजन्म पाना कितना दुर्लभ है? जगतके जीवोंपर दृष्टि पसारकर समझ लो—कैसे-कैसे जगतमें जीव है? कीड़ा-मकोड़ा, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी आदिक कितनी तरहके जीव पाये जाते। कैसा दुःखी हैं, विह्वल हैं? ऐसे ही हम आपकी भी तो दशा थी। ऐसे-ऐसे जन्ममरण करने पड़ते हैं इन संसारियोंको। उन जन्ममरणोंसे निकलकर हम आज मनुष्यजन्ममें आये हैं तो समझ लो कि इसका कितना महत्त्व है? ऐसा महत्त्वशाली मनुष्यभव पाकर जहाँ हम अन्तः ज्ञानज्योति जगाकर सदाके लिए संसारसंकटोंसे छूटनेका उपाय बना सकते हैं। ऐसा श्रेष्ठ मनुष्यजन्म पाकर यदि हम इसे यो ही गप्प-सप्पमें गँवा दें तो मरण करके ऐसे ही जीवोंमें जन्म लेना पड़ा तो बताओ क्या शान रही, क्या लाभ रहा? दो दिनकी चाँदनीमें, चकाचौंधमें क्यों आ जाते हैं? क्यों इसे सर्वस्व मान बैठते हैं? क्या है? धन मकान आदिक भी क्या हैं? शरीर भी क्या है? ये भी किसी दिन लोगोंके द्वारा जला दिए जायेंगे या कहीं पड़ा रह जायगा। इसके साथ भी जब हमारा सम्बंध नहीं तो धन वैभवके साथ जो इतना सम्बंध मान रखा, इस भूलका फल कौन भोगेगा? तो ऐसा दुर्लभ जन्म पाया है तो ऐसी हिम्मत बनाओ, इन बाह्य पदार्थों के प्रति ऐसी उदारता बर्तो, इन लोगोंके प्रति ऐसी उदारता बर्तो कि बाह्यका जो हो सो हो, हानि हो तो चिन्ता न करो, लाभ हो तो उसमें मौज मत मानो, उसके ज्ञाता रहो। ये सब पुण्यके फल हैं, यह सब संसार की लीला है। कोई भूखों मर रहा, कोई करोड़पति बन रहा, इसमें क्या हर्ष-विषाद? अरे उपयोग लगाओ अपने आत्महितकी ओर जैसे हो वैसे। मुझे भीतरकी ज्ञानज्योति प्रकट करनी है अपने हितके लिए, संसारके संकटोंसे छुटकारा पानेके लिए, ऐसा एक अन्तः साहस बनावें तो यह जीवन सफल हो जायगा। अगर न बने तो जैसे जन्म-मरण करते आये, तैसे और भी देखो। जिन्दगीभर मिला क्या? मोहमें आकुलित रहे, मरण किया और आगे फिर जन्ममरणके दुःख भोगते रहेंगे। ऐसी स्थिति मंजूर न करो। अपने

Report any errors at vikasnd@gmail.com

आपपर दया करके कुछ समय आत्मानुभवके लिए लगावें, ऐसे साधन बनावें। जैसे वैराग्य बने, ज्ञान बने उस प्रकारकी अपनी वृत्ति बनावें। और सफलता तब समझिये कि जब आपको अपने भीतर उठने वाले रागादिक भावोंसे भी उपेक्षा हो जाय। ये तो मेरी बरबादीके लिए आये हैं, ये मेरे स्वरूप नहीं हैं, इनसे मुझे हटकर अपने आपके एक ज्ञानस्वरूपमें अनुभवमें लगना है, ऐसा जब आपका चिन्तन बने तब समझिये कि हाँ हमने इस जीवनकी सफलता पायी है।

अव्याप्तिश्चोपयोगेपि विद्यमानेष्टकर्मणाम्।
बन्धो नान्यतमस्यापि नाबन्धस्तत्राप्यसति ॥८९७॥

उपयोगके होनेपर भी कहीं कहीं कर्मबन्ध न देखा जानेसे उपयोग व कर्ममें व्याप्ति का अभाव—इस पदमें बतला रहे हैं कि उपयोगकी द्रव्यकर्मके साथ व्याप्ति नहीं है। उपयोग हो तो वहाँ कर्म बँधे, ऐसा नियम नहीं है। उपयोग जुदी वस्तु है, कर्म जुदे पदार्थ हैं। एक बात यहाँ और समझना है कि गुणस्थानोंके जो नामकरण हैं और उन गुणस्थानोंके जो कारण हैं उन कारणोंमें आप एक ज्ञानकी कारणता कहीं न पायेंगे। ज्ञानके कारण कोई गुणस्थान बनाये गए हैं, ऐसी बात कहीं न मिलेगी। मिथ्यात्व गुणस्थान बना तो दर्शनमोहके उदयसे। अब चलते जाइये—अविरत सम्यक्त्व बना है तो दर्शनमोहके उपशम आदिकसे। और आगे बढ़े, छठा, ७वां, ८वां आदि गुणस्थान बने तो चारित्रमोहके क्षयोपशमसे, अभावसे, उपशमसे, क्षयसे। सयोगकेवली गुणस्थान बना तो योगके निमित्तसे याने ज्ञान आत्माका एक ऐसा आत्माके गुणोंमें साधारण गुण है जो उस ज्ञानके कारण न यहाँ बन्ध हो रहा, न सम्वर हो रहा, न निर्जरा हो रही, वह ज्ञान तो एक निष्पक्ष बैठा हुआ है। जितनी हम आपकी गड़बड़ी हो रही है वह मिथ्यात्व व कषायसे हो रही है और जितना सुधार हो रहा है वह सम्यक्त्व चारित्रके कारण हो रहा है, फिर भी हम एक ज्ञानके प्रयोगके सिवाय और कर क्या सकते हैं? सम्यक्त्वके साधन बनाया सम्यक्त्व बने, चारित्रके साधन किया चारित्र बनें, जो भी कुछ आपका उत्कर्ष है उन सबमें ज्ञान सहायक है, इतनेपर भी ज्ञानकी साधारणताके कारण यहाँ बन्धन और अबन्धनकी व्यवस्था नहीं बन सकती। तो उपयोगके साथ भी द्रव्यकर्मकी व्याप्ति नहीं है। सिद्ध अवस्थामें शुद्धोपयोग है, पर वहाँ बंध नहीं, मिथ्यात्व अवस्था में शुद्धोपयोग नहीं, वहाँ बंध है तो उपयोगसे कर्मोंकी व्याप्ति नहीं बन सकती।

यद्वा स्वात्मोपयोगीह क्वचिन्नानुपयोगवान्।
व्यतिरेकावकाशोपि नार्थादत्रास्ति वस्तुतः ॥८९८॥

ज्ञान और रागकी जुदी-जुदी लखन—देखिये—हम आप कर क्या रहे हैं? हर जगह जाननेका काम कर रहे और जाननेके साथ-साथ करते हैं रागद्वेष मोह तो वहाँ यह विदित होता है कि हमारा जानना बिगड़ गया है, हम उल्टा जान रहे हैं। एक भगोनेमें पानी है

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

और आपको कोई कपड़ा रंगना है तो रंग डाल दिया पानीमें तो आपको सारा पानी रंगा हुआ दीखेगा, लेकिन वहाँ विचार करके देखो तो क्या पानी रंग गया ?⋯हाँ रंग तो गया, अगर नहीं रंगा है तो इस भगोनेके किसी कोनेमें बताओ कि यहाँ पानीका एक बूंद बैठा है क्या साफ, स्वच्छ, सफेद ? नहीं है।⋯अब जरा गहरी दृष्टिसे देखो तो क्या पानी रंग गया ? पानी पानीमें जिस प्रकार है सो है, स्वरूपतः और रंगमें वह रंग भरा है, इसमें कुछ जरा मोटीसी बात देख लो—भींतपर कलई पोत दी तो लोग कहते हैं कि भींत अब रंग गयी। पीला रंग पोत दिया तो भींत पीली हो गयी। बताओ भींत पीली हो गई क्या ? अरे भींत नहीं पीली हुई, भींतमें भींत है, रंगमें रंग है। तभी तो कभी-कभी देखा होगा कि उस भींतमें से रंगकी पपड़ीसी निकल जाती है और भींत दिखने लगती है। जैसे रंगमें रंग है, भींतमें भींत है, फिर भी लोग कहते हैं कि भीत रंग गई, ऐसे ही जलमें रंग डाल दिया, जल रंग गया तो लोग कहते हैं कि जलका रंग बदल गया, रंग गया। ज्ञानके साथ रागद्वेष लगे हुए हैं उन रागद्वेषोंके कारण चूंकि एक ही आधारमें हैं ना दोनों बातें, तो वहाँ ऐसा जँचने लगता है कि ज्ञान बिगड़ गया, पर ज्ञानका जितना काम है उतना स्वरूपकी ओरसे देखो तो ज्ञानमें न बिगाड़ है, न सुधार। जितना बिगाड़-सुधार है हम आप सबका वह एक भीतरी कषाय और अकषाय भावसे है। तो हम जब अपने आपको इस तरह पा लेंगे कि मेरा तो मात्र ज्ञानस्वरूप है, जाननमात्र है, प्रतिभासमात्र है वह तो मेरे गुणका अंश है और जितनी यह गंदगी है, कीचड़ है, ये सब औपाधिक चीजें हैं। मैं नहीं हूं वह, मेरा स्वरूप नहीं है वह, इस प्रकार भीतरके विविक्त रागादिकोंसे निराला एक ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वको हम जितने भी ढंगों से जान सकें, जाननेका यत्न करें।

स्वरूपतः जीवोंको समान जानकर उनमें शत्रुता बन्धुताका भाव न लानेकी नीतिमें आत्मलाभ—देखो—जीवनमें उत्कर्षके पास पहुंचाने वाली एक नीति है, वह नीति आत्मनीति है। सब जीवोंको स्वरूपतः समान मानकर इन जीवोंमें बन्धुता और शत्रुताकी श्रद्धा न रखें। जहाँ यह नीति आ जायगी वह अपने आत्माका उत्कर्ष कर लेगा। स्वरूपतः देखो कौन जीव मेरा विरोधी है, विरुद्ध है ? यह भी कर्मका नाच है, स्नेह है वह भी कर्मका नाच है। जीव स्वरूपतः जो है सो है। उस बेचारेका क्या यह अपराध है ? स्वरूपतः देखिये—जो अपराध है वह सब कर्मका नाच है। ऐसे अन्तः स्वरूपको निरखकर सर्वजीवोंमें शत्रुता और बन्धुताका जो भाव नहीं रखता, ऐसी जिसकी श्रद्धा निर्बल बन गयी है, ऐसा जीव संसार-संकटोंसे पार अवश्य हो जायगा और जो यहाँ परिचय रख रहा है, यह मेरा है, यह गैर है, यह विरोधी है, जो इस तरहकी चित्तमें श्रद्धा जमाये हुए हो उसमें उत्कर्ष कहाँसे आयगा ? तो ये सारी बातें करनेकी हैं और अपने आपपर दया करके करनेकी हैं। इसमें कहीं दूसरे जीवोंपर ऐहसान

Report any errors at vikasnd@gmail.com

आये ऐसी कोई बात नहीं। तो खुदके भलेके लिए अपने आपमें खुद ऐसी ज्योति जगाना चाहिए।

सर्वतश्चोपसंहारः सिद्धश्चैतावन्मात्र वै।
हेतुः स्यान्नोपयोगोयं दृशो वा बन्धमोक्षयोः ॥८६६॥

उपयोगकी सम्यक्त्व, बन्ध व मोक्षमें अकारणताका उपसंहार—अभी तक जितना कथन किया गया था उसका सारांश यह है कि उपयोग सम्यग्दर्शन या बंध मोक्षका कारण नहीं है। उपयोग कहते हैं जाननेको। कुछ भी जानना—जैसे चौकी जाना, ईंट पत्थर जाना, यह उपयोग रहता है। आत्माको जाना, यह भी उपयोग कहलाया, परमात्माको जाना तो यह भी उपयोग हुआ। उपयोगका अर्थ है जानना। तो जो जानना मात्र है उससे न सम्यक्त्व होता है, न बन्ध होता है, न मोक्ष होता है, न सम्वर निर्जरा है, वह तो एक जीवमें साधारण तत्त्व है। तब सम्वर निर्जरा होती किससे है ? सम्यक्त्व और चारित्रसे। कषाय न रहे, भ्रम न रहे, भीतरमें स्वच्छता प्रकट हो उससे सम्वर निर्जरा होती है। यह प्रकरण किस बातपर चल रहा था और किस प्रसङ्गके लिए ये सब उत्तर दिये जा रहे थे, उस शंकाको अब फिर दुहराते हैं।

ननु चैवं स एवार्थो यः पूर्वं प्रकृतो यथा।
कस्याचिद्वीतरागस्य सद्दृष्टेर्ज्ञानचेतना ॥६००॥
आत्मनोऽन्यत्र कुत्रापि स्थिति ज्ञाने परात्मसु।
ज्ञानसञ्चेतनायाः स्यात् क्षत्रिः साधीयसी तदा ॥६०१॥

सम्यग्दर्शन व ज्ञानचेतनाका परिचय—शंकाकारकी शंका दुहराई जा रही है उससे पहिले कुछ समझने योग्य बातें सुनो—यहाँ इतने शब्दोंका प्रयोग होगा। सम्यग्दर्शन, ज्ञानचेतना, उपयोगमयी ज्ञानचेतना, इनका यहाँ प्रयोग होगा तो इन तीनका पहिले अर्थ समझ लो। सम्यग्दर्शनका अर्थ है आत्मामें से विपरीत अभिप्रायका निकल जाना। जो मिथ्यात्व कर्मके उदयसे मोह लग गया था, भ्रम हो गया था, देहको आत्मा मान रहा था, परवस्तुओं से सम्बंध कर रहा था—मैं परका करने वाला हूं, मैं परका काम कर सकता हूं, मैं भोगको भोग सकता हूं आदिक जो विपरीत अभिप्राय लगा रखे थे वे अभिप्राय समस्त दूर हो जायें और उन अभिप्रायोंके दूर होनेसे आत्मामें जो एक स्वच्छता, हल्कापन हो जाता है, बोझ नहीं रहता, ऐसी स्थिति आ जाय तो उसे कहते हैं सम्यग्दर्शन। ज्ञानचेतनाका क्या अर्थ है ? आत्माका जो सहज ज्ञानस्वरूप है उस ज्ञानमें यह मैं हूं, मैं इसको ही करता हूं, इसी ज्ञानको भोगता हूं, ज्ञानके सिवाय और कुछ नहीं है, ज्ञान ही मेरा स्वरूप सर्वस्व है। इस तरह ज्ञानमय अपने स्वरूपका सम्वेदन करना सो ज्ञानचेतना है। यहाँ आप दोनोंका अर्थ सुनकर कुछ समझ

रहे होंगे कि बात दोनों एकसी हुई और हैं भी बात दोनों एक। सम्यग्दर्शनमें भी स्वच्छता होना, ज्ञानचेतनामें भी स्वच्छता होना, बात दोनों एक हैं, लेकिन ज्ञानचेतनाका तो सम्बंध है उपयोगसे, ज्ञानसे और सम्यग्दर्शनका सम्बंध है सम्यक्त्व गुणसे। इतना दोनोंमें अन्तर है। हाँ अब प्रकृत बातपर आइये—ज्ञानचेतनाका अर्थ क्या हुआ? ज्ञानमें यह मैं हूं, इस प्रकार का संचेतन करना। जरा रुचिपूर्वक सुनिंग—और मुझे संसार-संकटोंसे छूटना है, उसका उपाय करना है, ऐसा मनमें भाव रखकर सुना जाय तो अपने आत्माकी बात अपनेको कठिन लगे, यह नहीं हो सकता। अपनी बात अपनेको कठिन कैसे लग सकेगी? वह तो अपनी ही चीज है, अपनेमें है, परन्तु रुचि जब तक अपने आपके हितकी ओर न हो, विषयकषायोंमें, धनमें, दूकानमें, परिवारमें, लौकिक इज्जतमें, ठाट-बाटमें यदि रुचि लगी हो तो फिर इस रुचिके फेरसे यहाँका सारा फेर हो जाता है। अतः पहिले अपने आपके संकल्पको स्वच्छ बनायें। मेरी सही-सही जिन्दगी इस उपयोगमें लगे कि मेरे आत्माका हित हो। किसीसे अपने आपकी भलाई न होगी। तो ऐसा संकल्प हो, भाव हो तो अपनी बात अपनेको रुचेगी और समझमें आयगी। प्रकरण चल रहा था ज्ञानचेतनाका। हम हमेशा चेतते तो रहे, कुछ भी चेते। घर-मकान जाना तो, विषयोंको भोगा तो, चेतनेका काम हम निरंतर करते हैं। जानते ही तो रहते हैं कुछ न कुछ, लेकिन अपने ज्ञानस्वरूपको छोड़कर अन्य कुछ बाहरमें जाना अन्य कुछको चेता, तो उस जाननेका कोई फायदा नहीं होता। अपनेको इस तरह अनुभव करें कि मैं ज्ञानस्वरूप हूं, ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है, ज्ञान ही सदासे है, सदा तक रहेगा। ज्ञान ही मेरी दुनिया है, ज्ञान ही मेरा सारा कुटुम्ब है, ज्ञान ही मेरा सर्वस्व वैभव है, ज्ञानके सिवाय अन्य अणु मात्र भी मेरा कुछ नहीं है। धनकी तो बात ही क्या? ऐसे उस सहज ज्ञानस्वभावको चेतें तो वह ज्ञानचेतना कहलाती है।

उपयोगमयी ज्ञानचेतना व लब्धिरूप ज्ञानचेतनाका परिचय—अब इसके बाद तीसरी बात और सुनो–जैसे हम इतनी चीजोंको जानते हैं, अपने जानने योग्यको जान रहे हैं, मकान, भींत, पत्थर, पुस्तक, चौकी सबकी जानकारी हो रही है, मगर क्या एक साथ सबकी जानकारी बन रही है? जितनी चीजें हैं उन सबको एक साथ समझ रहे हो। नहीं समझ रहे, मगर इन सबको जाननेकी आपमें योग्यता है कि नहीं? है। तो सबको जाननेकी योग्यता तो है, मगर जान पाते हैं एक-एकको। तो इसे कहेंगे लब्धि और उपयोग, याने बहुतसी चीजोंको समझनेकी हममें योग्यता है वह तो है ज्ञानचेतना। ज्ञानको हम ऐसा समझें कि यह मैं हूं, इस ज्ञानको ही करता हूं, भोगता हूं, ज्ञान ही मेरा वैभव है। ज्ञानको ही अपना सर्वस्व समझना, यह कहलाता है ज्ञानचेतना। ज्ञान भी योग्यता और उपयोगरूप दोनों किस्मसे परखे जाते हैं। जैसे इस मन्दिरमें जितनी चीजें हैं उन सबको आप जान लेते हैं कि नहीं? जानते हैं। दर-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

वाजा, किवाड़, भींत, चटाई, दरी आदिक सब कुछ तो जान सकते हैं आप, मगर उपयोग जिसमें लगा हो, जान रहे हैं उस चीजको। जाननेकी योग्यता तो है सबके, जितना कि आप जान रहे हैं, जान सकते हैं, मगर जानते आप एक समयमें किन्हीं एक-दो चीजोंको। सबको तो नहीं जान रहे। तो सबको जाननेकी जो योग्यता है उसको कहते हैं लब्धि। सबको जाननेकी योग्यता बनती है ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे, और उपयोग कहलाया कब, जब कि उस पदार्थको जान रहे हों, और भी समझें। जैसे आप ४-५ भाषाओंको जानते हैं—अंग्रेजी, हिन्दी, संस्कृत, उर्दू आदि, मगर पुस्तक बाँच रहे आप हिन्दीकी, तो योग्यता आपमें कितनी है? ४-५ भाषाओंके जाननेकी और जान रहे हैं आप इस समय किसको? हिन्दीको। तो जिसमें उपयोग लग रहा, जिसे जान रहे हैं उसे तो कहेंगे उपयोग और जितनेकी योग्यता है उसे कहेंगे लब्धि। याने ज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर जितने पदार्थोंको जाननेकी इसमें सामर्थ्य आयी बस उसे कहेंगे लब्धि। तो ऐसी ही बात ज्ञानचेतनामें घटित करें। ज्ञानचेतना का अर्थ बताया कि ज्ञानमें ही, ज्ञानस्वरूपमें ही अपने आपके सर्वस्वका वेदन करना, संचेतन करना, अब यह बात लब्धिरूप भी है उपयोगरूप भी है, मानना है अपने ज्ञानस्वरूपको ज्ञान-स्वरूप आत्मा। अपने इस आत्मस्वरूपको हम जान सकते हैं, ऐसी हममें योग्यता हो, ऐसा क्षयोपशम बने और वह बनता है सम्यक्त्वके साथ-साथ। सम्यक्त्वके बिना नहीं, तो ऐसी योग्यताको कहते हैं लब्धिरूप ज्ञानचेतना। और जब हम ज्ञानस्वरूपका अनुभव कर रहे हों, स्वानुभव स्वोपयोग तब कहेंगे उपयोगरूप ज्ञानचेतना।

शंकाकारके अभिप्रायका स्पष्टीकरण—इतना समझनेके बाद अब शंकाकारका अभि-प्राय सुनो—शंकाकारका यह अभिप्राय है कि मैंने यह सुना था कि वीतराग सम्यग्दृष्टिके ज्ञान-चेतना होती है और ज्ञानचेतना समझ रहे थे उपयोगस्वरूप। याने ज्ञानस्वरूप निज आत्मा का ज्ञान रूपसे ही अनुभव करनेको ज्ञानचेतना समझ रहे थे। इस समझके अनुसार शंकाकार का यह कहना था कि जब ज्ञानोपयोग आत्माको छोड़कर अन्य किसी पदार्थको जानता है तो वहाँ ज्ञानचेतना न रही, सम्यक्त्व भी न रहा, सम्वर निर्जरा भी न रहे, ऐसा अभिप्राय शंका-कार रखता था। उसे समझनेके लिए यह सब प्रयत्न हो रहा है।

सत्यं चापि क्षतेरस्याः क्षतिः साध्यस्य न क्वचित्।
इयानात्मोपयोगस्य तस्यास्तत्राप्यहेतुता ॥१०२॥
साध्यं यद्दर्शनाद्धेतोर्निर्जरा चाष्टकर्मणाम्।
स्वतो हेतुवशात्छक्तेर्न तद्धेतुः स्वचेतना ॥१०३॥

लब्धिरूप ज्ञानचेतनासे उत्कर्षकी बात समझ लेनेपर सब समस्याओंका समाधान—शंकाकारकी क्या शंका थी कि यदि उपयोगरूप ज्ञानचेतना न रहे याने जैसे चौकीको जानते

हैं तो यह उपयोगरूप चौकीका ज्ञान है और पीठ पीछे जितनी चीजें पड़ी हैं उनका है लब्धि-रूप ज्ञान। उसे हम जान नहीं रहे हैं तो ऐसी ही लब्धिरूप ज्ञानचेतना होती है और उपयोग-रूप ज्ञानचेतना है तो शंकाकारकी शंकाके उत्तरमें समझा रहे हैं कि भाई लब्धिरूप ज्ञानचेतना हो, सम्यक्त्व हो तो सम्वर निर्जरा होती रहती है। उपयोगरूप ज्ञानचेतना न भी हो याने सम्यग्दृष्टिका उपयोग किसी परपदार्थके जाननेमें चल रहा हो तब भी सम्वर और निर्जरा होती है, मोक्षका मार्ग उसके चल ही रहा है। तो यह शंका न करना कि उपयोगमयी ज्ञान-चेतना न रही तो सब मिट गया, सम्यक्त्व भी मिटेगा, सम्वर निर्जरा भी मिटेगी, ऐसी बात नहीं। यहाँ ग्रन्थकार एक भीतरी स्वच्छताकी महिमाको बता रहे हैं, मिथ्यात्वके नष्ट हो जानेपर आत्माकी जो स्वच्छता प्रकट होती है उसकी अपूर्व महिमा है। तब ही समंतभद्राचार्य कहते हैं कि सम्यक्त्वके समान श्रेयस्कर अन्य कुछ चीज नहीं है और मिथ्यात्वके समान विपदा और कोई चीज नहीं। मिथ्यात्व नाम किसका है? अपने आपकी जो दशा बन रही है, जो राग बन रहा है उस रागसे, उस कषायसे अपना न्यारा ज्ञानस्वरूप है, उसे न समझ सकना, ऐसी बेसुधीका नाम मिथ्यात्व है। जिसकी मुद्रायें बनती हैं कि देहको आत्मा मानना परपदार्थको अपना समझना। मिथ्यात्व नाम है एक अज्ञानका, बेसुधीका। अपना जो एक सहज ज्ञानस्वरूप है, अपने आपके सत्त्वसे जो अपनेमें स्वभाव पाया जाता है उसका प्रकाश न हो सकना, उसका ज्ञान न हो सकना, उसका अनुभव न हो सकना, यह है मिथ्यात्व।

सम्यक्त्वके होनेसे सम्पन्नता व मिथ्यात्वके होनेसे विपन्नताका निर्णय—भैया! यह निर्णय करना है कि मेरे ऊपर विपदा है तो मिथ्यात्व और कषाय ये दो प्रकारके भाव जो मुझमें होते हैं वही मुझपर संकट हैं, अन्य बातका संकट न समझें। कभी वैभव कम हो जाय याने बाहरी बातोंमें कुछ भी कमी-बेसी हो उससे आत्माको कुछ लाभ-हानि नहीं है। धन बढ़ गया तो आत्मामें कौनसी वृद्धि हो गई? आखिर आगे मरण तो होगा ही, और फिर जैसे कर्म किया है उसके अनुसार तुरन्त ही निर्णय होगा। एक दो समयमें ही निर्णय होगा। जिस किसीकी इज्जत बनी है वह धीरे-धीरे मिटेगी, ऐसा यहाँ नहीं है। मरेके बाद तुरन्त जाना पड़ेगा। आज मनुष्य हैं और मरकर बन गए पेड़ तो कहाँ रही इज्जत? तो वहाँ कुछ धीरे-धीरेका काम नहीं है। तो ये सब जितने भी हमारे पतन हैं उनका कारण है मिथ्यात्व। अपने आपको सम्हालकर अपने आपकी रक्षा करना, यह प्रथम काम है। लड़के हैं, स्त्री है, लोग हैं, उनके कर्म उनके साथ लगे हैं और उनके ही कर्मके उदयमें आप लोग उनके चाहे कुछ सेवक बनें, नौकर बनें, लेकिन आप उनके कोई उत्तरदायी नहीं। आप अपने ही जिम्मे-दार हैं, ऐसा जानकर एक आत्महितके लिए उत्सुकता जगे और अपने आपमें भीतर सोचा करें तो आत्मज्ञान हो लेगा।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

विषयरुचि न होनेपर ज्ञानसाधनाकी सुगमता—लोग सोचते हैं कि धर्मकी साधना कठिन है, ज्ञानकी साधना कठिन है, सम्यक्त्व पाना होगा कोई बड़ोंका काम, इस तरह उन बातोंको टाल देते हैं, लेकिन एक प्रयोग भी करके देखें—एक यही प्रयोग कर लें कि किसी क्षण तो जगतके सारे पदार्थोंको अहित जान करके जब मेरे हितमें एक परमाणु भी न आयगा, मेरे काम कोई आ ही नहीं सकता है तो मैं अपने चित्तमें किसी भी परपदार्थको न बसाऊँगा। कुछ भी मेरे ज्ञानमें मत आये, सबका ख्याल छोड़ दें और ऐसे आत्मीय विश्रामके साथ एक क्षण भी बैठ जायें, एक क्षण भी ऐसा गुजारें तो जो बात कठिन समझी जाती हो वह सब आपके सामने आ जायगी, अनुभव हो जायगा, किन्तु जब रुचि लगी है मोह रागकी और तो आत्माके शुद्ध तत्त्वकी बात जानना चाहें, अनुभवना चाहें और उस पंथमें लगना चाहें तो यह बात जरा कठिन है। कठिन क्या है ? परकी रुचिमें तो आत्माका प्रकाश पाना असम्भव है। वह दूर करना होगा और परकी रुचि दूर करनेके लिए कोई विशेष ज्ञानकी ज्यादा जरूरत नहीं है। जो भोग रहे हैं, जो आपने अनुभव पाया है, सबके साथ रह-रहकर वह ही अनुभव आपके लिए काफी है। सब समझा है कि सेवायें सबकी करें, लेकिन वहांसे मुझे फल कुछ नही मिलता। जिन्दगीभर सबकी खुशामदमें रहो, प्रसन्न करनेमें मरो, लेकिन अपने आपको वहांसे कुछ फल नहीं मिलता, बल्कि जरासा बिगाड़ हो जाय तो उल्टा वे अपराध ही उमड़ते हैं। तो ऐसे विचित्र संसारमें मुझे चित्तमें बसाने लायक कौन है ? एक बार सबका ध्यान छोड़कर ऐसे विश्रामसे बैठ जायें कि अपने आप जो ज्ञानमें आये सो आया करे। मुझे जान-बूझकर तोड़-ताड़कर ठिकाने बना-बनाकर मुझे कुछ नहीं सोचना है। स्वयं जो ज्ञानमें आये सो आये, ऐसो एक हिम्मत बनाकर थोड़े समयको ही सबको भुला दें तो वह ज्ञानस्वरूप भी भगवान आत्मतत्त्व स्वयं आपको दर्शन दे सकता है। पर इसके लिए मूलमें चाहिए हितकी अर्थिता।

हितार्थिताका गुण होनेपर श्रोताका वास्तविक श्रोतृत्व—सबसे पहिले श्रोताओंके लक्षणमें बताया है कि "भव्यः किं कुशलं ममेति विभृशन्" मेरी किसमें कुशल है ? मेरा क्या हित है ? ऐसा विचार करने वाला ही श्रोता है। जब हम कभी कुछ बोलें धर्मकी बात, तो खुद अपने आप ही सुनें। अपने आप बोलें तो उस बोलनेका लाभ भी बोलने वालेने उठाया। दूसरोंको तो हम बहुत बातें समझाया करते हैं, कोई अधीर हो रहा हो, दुःखी हो रहा हो तो उसको समझाते हैं, पर एक प्रकृति बन जाय कि हम जो दूसरेको समझायें उसको हम तुरन्त समझते जायें, सुनते जायें तो यह बोलना भी यह श्रम भी व्यर्थ न जायगा। पहिली बात यह आनी चाहिए चित्तमें कि मेरा हित किस बातमें है ? हमें तो वह बात जानना है, समझना है, दोष देखनेके लिए नहीं, कितना क्या बोला जा रहा, कोई गल्ती पकड़नेके लिए नहीं, अन्य

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

किसी अभिप्रायसे नहीं, किन्तु मेरा हित किसमें है, मुझे तो अपने हितका प्रकाश चाहिए। इस भावसे सुनें। यों तो फिर संसार है। आप एक विरोधीको देखते हो और जगतमें हैं अनन्त जीव और यही विरोधी यहाँ न हो और अन्य जगह हो तो आपका विरोधी तो नहीं। हमारे सामने आ जाय तो समझते हैं कि यह विरोधी है। अरे न किसीका विरोधभाव चित्तमें लावें, न किसीका रागभाव चित्तमें लावें। अपने आपको अकेला ज्ञानस्वरूप निरखते रहें। मेरा हित किसमें है? इसके जाननेकी उत्सुकता बनाये रहें तो अपने लिए सब कुछ भला होगा। यह आत्माकी ही तो बात है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है कि नहीं? बताओ, आत्माका क्या ढंग है, आत्माका क्या रूपक है? कुछ कल्पनासे बताओ ना। मेज, कुर्सीकी तरह है क्या आत्मा? किसीने आपके शरीरको जकड़ लिया तो क्या आत्माको जकड़ लिया? आत्माका क्या स्वरूप है? टेबिल, कुर्सीकी भाँति पिण्डरूप तो है नहीं। रस, गन्ध आदिककी तरह कोई यहा रस गंध पायी जाती नहीं। तो है आत्मामें और क्या चीज? मना कर सकते नहीं, क्योंकि जान रहे, समझ रहे, पूछ रहे, ऐसी बात किसीमें हो तो रहो, मना कैसे कर सकते? सो मना कर सकते नहीं व देख सकते नहीं। तब आत्माको समझनेकी क्या तरकीब है? बस उसकी तरकीब है ज्ञानस्वरूपमें उसे देखना। जो जानना बन रहा है वह जाननस्वरूप है, सो ही मैं आत्मा हूं। आत्मा ज्ञानस्वरूप है। तो जब आत्मा ज्ञानस्वरूप है और वह अपने ज्ञानस्वरूपको ही न जान पाये तो यह तो अंधेर जैसी बात है ना? क्यों न जान पायगा? इस ज्ञानस्वरूप आत्माको जाननेमें बाधक हो रहा है तो परकी ओरकी दृष्टि, परका व्यामोह, विषयोंकी रुचि, परिग्रहका भाव, मूर्छा परिणाम, ये सब ऐब लगे हैं, वे बाधक बन रहे हैं, अन्यथा आत्मा तो ज्ञानस्वरूप ही है। तब जानना तो सहज ही हो जायगा। उसमें क्या कठिनाई है? पर रुचि जो परपदार्थोंकी ओर लगी है उससे नहीं समझ पाते। आप धर्मके नामपर कितने ही काम करते जायें और कितनी ही विद्यायें सीखते जायें, कितना ही भाषण सुनते जायें, कितना ही कुछ कर लें, लेकिन ज्ञानस्वरूप निज तत्त्वको जाने बिना क्षोभ तो न दूर हो सकेगा, मोक्षमार्ग तो न मिल सकेगा। संसारकी कुछ थोड़ी मुद्राओंको देखकर इनमें अगर ललचाहट ही रही तो भलापन कुछ नहीं होगा। बन जायेंगे राजा, बन जायेंगे चक्रवर्ती, बन जायेंगे अहमिन्द्र, इतनेपर भी आत्माका कल्याण कुछ नहीं होगा।

अपने प्रतिबोध बिना विडम्बनाओंका भोग—भैया! समझना होगा इस कठिन बातको जो आज कठिन लग रही है। यदि आत्माका कल्याण चाहिए, संसार-संकटोंसे छुटकारा चाहिए तो अपने आपके ज्ञानस्वरूपकी बात, अन्तरंगकी बात समझना ही होगी। न समझेंगे तो रुलते रहेंगे संसारमें। एक किसान था। हल जोतते समय खेतमें कोई एक साँप आ गया और उस साँपपर पड़ गया बैलका पैर, और उस साँपने डस लिया किसानको। तो साँप द्वारा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

इसे जानेपर कुछ उन्माद-सा होता है, जिसे कहते हैं मेहर उठना। ५-७ बार उन्मादकी घटना बना करती है तो वह उन्मादमें आकर बैलको बहुत-बहुत पीटने लगा। लोगोंने समझाया कि भाई तुम अपने बैलको क्यों पीट रहे ? तो किसान बोला कि इसने मुझपर पैर क्यों रखा ? जिसको उन्माद आता है वह अपनेको साँप अनुभव करता है। और साँपकी ओरसे वह बोलता है। उसे बहुतसे लोगोंने समझाया, न माना। बहुत देर बाद एक विवेकीने धीरेसे समझा कि देखो तुम बैलको पीट रहे हो, वह बैल मर जायगा तो फिर तुम्हारा काम कैसे चलेगा ? तुम क्या खाओगे, बच्चे क्या खायेंगे ? अरे इस बैलको मत मारो, तुम्हारे यह साँप का विष उतर जायगा, तुम ठीक हो जावोगे। इस बैलको न पीटो, नहीं तो तुम्हारा सारा काम बिगड़ जायगा। तो उसकी समझमें बात आ गई और पीटना छोड़ दिया। ऐसे ही समझिये कि हम विषयकषायोंमें रुचि बनाकर, आरम्भ परिग्रहमें अपनी उत्सुकता बढ़ाकर अपने आपको बरबाद किए जा रहे हैं। इतना उन्माद चढ़ा है कि हम अपने भगवान आत्माकी कुछ सुध नहीं ले रहे। तो समझाने वाले ऋषि संत समझाते हैं कि देखो पागलपन मत करो। यह जिन्दगी तो थोड़ीसी है और इस ही जीवनमें विषयकषायोंकी रुचि बनायें, उससे निवृत्ति न कर सकें तो दुःख कौन भोगेगा ? बरबाद तो इसको ही होना पड़ेगा, दुर्गतिमें तो इसको ही जाना पड़ेगा। चेत जावो, मत मोह करो। बाह्य पदार्थोंमें मत इतनी ममता बनावें, अपने आत्माकी सुध करें और यह समझ जायें कि हमारा तो भला होगा आत्मज्ञानसे। इस परिग्रह से क्या आत्माको मिलेगा ? लोग थोड़ा सोचते हैं कि लोग कहेंगे कि यह है खास आदमी, धनी आदमी। अरे जो लोग कहेंगे वे स्वयं दुःखी हैं और उनके कहनेसे तुम्हें मिलेगा क्या ? अपना तो कुछ सोचो। संतुष्ट रहना चाहिए और ज्ञानमें, धर्मके मार्गमें अपनेको बढ़ाना चाहिए। देखिये—अनादिकालसे भ्रमते आये हैं। दुर्लभतासे मनुष्यजन्म पाया है, सफल हो जायगा यह अगर आत्मज्ञानकी बात पा सके तो। इस ज्ञानस्वरूपका ज्ञान जिनके हुआ है उनके ज्ञानचेतना कही जाती है और जिनके यह ज्ञानचेतना है, सम्यक्त्व है, उनके सम्वर है, निर्जरा है, मुक्ति का मार्ग है।

ननु चेदाश्रयासिद्धो विकल्पो व्योमपुष्पवत्।
तत्किं हेतुः प्रसिद्धोस्ति सिद्धः सर्वविदागमात् ॥६०४॥

विकल्पकी असत्ता होनेसे किसी भी ज्ञानको विकल्पात्मक कहनेकी आश्रयासिद्ध दोष होनेसे अयुक्तता—प्रकरण यह चल रहा था कि हम आप लोगोंका जो ज्ञान होता है वह ज्ञान बदलता रहता है। अभी कुछ जाना, फिर कुछ जाना तथा हम आप लोगोंके ज्ञानमें चंचलता रहती है, उसमें विकल्प उठा करते हैं, इस कारणसे इस ज्ञानको विकल्पात्मक अथवा संक्रमणात्मक कहा था। इसपर यहाँ शंकाकार यह कह रहा है कि विकल्प नामकी तो कोई चीज ही नहीं है। विकल्प क्या है ? कोई वस्तु ही नहीं है, तब ज्ञानको विकल्पात्मक कहना कैसे ठीक

Version 1

है ? इसे कहते हैं आश्रयासिद्ध । जो बात नहीं है उसकी बात कहना, उसके आश्रयसे किसीका कुछ कहना आश्रयासिद्ध कहलाता है । शंकाकार कह रहा है कि विकल्प तो आकाशके फूल की तरह असिद्ध हैं । क्या किसीने आकाशका फूल देखा अथवा आकाशके फूलकी किसीने माला बनायी ? अरे जब फूल ही नहीं है तो उसका कथन ही कैसे किया जा सकता ? तो जैसे यह कथन आश्रयासिद्ध है, इसी प्रकार ज्ञानको विकल्पात्मक कहना आश्रयासिद्ध है । जब विकल्प कोई पदार्थ ही नहीं है तो ज्ञानको सविकल्प कहनेमें यह हेतु देना कि सर्वज्ञ भगवानने ऐसा ही कहा है । आगममें इसी तरह वर्णन है । आगमकी दुहाई देना, यह भी बेकार चीज है । विकल्प जब कुछ वस्तु नहीं तो ज्ञानको विकल्पात्मक उपचारसे भी क्यों कहते हो ? देखिये—ध्यानपूर्वक सुनो—ज्ञानको क्या बताया था विकल्पात्मक, विकल्परूप । उन विकल्पों के दो भेद हैं—एक तो ज्ञान बदलता रहता है, विकल्पका अर्थ बदलना है । दूसरा अर्थ है कि ज्ञानके साथ जो रागद्वेष इष्ट अनिष्ट आदिक भाव चलते हैं वे विकल्प हैं । तो दोनों ही विकल्पों को ध्यानमें रखकर शंकाकार यह कहता है कि विकल्प तो कुछ चीज ही नहीं है । फिर विकल्परूप कहनेका क्या भाव है ? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि—

सत्यं विकल्पसर्वस्वसारं ज्ञानं स्वलक्षणात् ।
सम्यक्त्वे यद्विकल्पत्वं न तत्सिद्धं परीक्षणात् ॥६०५॥

स्वलक्षणरूप विकल्पके अतिरिक्त अन्य विकल्पका ज्ञानमें अभाव तथा सम्यक्त्वमें विकल्पका अभाव—उत्तर समझनेसे पहिले एक बात और समझ लीजिए । अभी विकल्पके दो अर्थ बताये थे—एक तो ज्ञानका बदलना, अमुक पदार्थ जाना, उसे छोड़कर अन्यको जाना । दूसरे विकल्पका अर्थ क्या था कि उसके साथ जो रागद्वेष विचार तर्क-वितर्क जो चल रहे हैं वे भी विकल्प हैं । इसी अर्थको लेकर शंकाकारकी शंका थी कि विकल्प कोई वस्तु ही नहीं है । फिर ज्ञानको विकल्पात्मक कहनेका क्या अर्थ ? इसका उत्तर सुननेसे पहिले विकल्पकी एक तीसरी व्याख्या भी सुन लीजिए । विकल्पका अर्थ है जानना । पदार्थका जानना, यह भी विकल्प कहलाता है । विकल्प शब्दका जो प्रसिद्ध अर्थ है उस अर्थके अनुसार तो सोच रहे होंगे कि इस विकल्पका क्या मतलब ? परिभाषायें होती है उसके अनुसार अर्थ होता है । ज्ञान जानता है, ज्ञेयाकारको समझता है, ज्ञेयाकाररूप परिणमन करता है, बस इस जाननका ही नाम विकल्प है । तो ऐसा विकल्प तो ज्ञानका स्वरूप समझियेगा । दोषरूप नहीं है । शंकाकार दोषरूप विकल्पके लिए शंका कर रहा था, किन्तु यह विकल्प तो ज्ञानकी सहज मुद्रा है, सहजस्वरूप है । उस विकल्पसे तो बतावेंगे कि ज्ञान अपने लक्षणसे विकल्पात्मक है, लेकिन शंकाकारने दो आपत्तियाँ दी थीं कि ज्ञान कैसे विकल्पात्मक है, सो शंकाकारका कहना कुछ ठीक था । हाँ, वास्तवमें ज्ञान विकल्पस्वरूप नहीं है । विकल्प है दूसरे ऐबका काम, लेकिन

http://www.jainkosh.org

उसके संगसे जब तक जान रहा है तब तक ज्ञानमें विकल्पात्मकताका उपचार किया जाता है। ज्ञानमें विकल्पात्मक नहीं, सम्यक्त्वमें विकल्प नहीं। यह बात यद्यपि कुछ ठीक है, लेकिन इसके मायने यह न होंगे कि विकल्प आकाशपुष्पकी तरह असत् है। विकल्प है कुछ और चीज और उस विकल्पके सम्बंधसे ज्ञानको या सम्यक्त्वको विकल्पात्मक कह दिया जाता है, यह उपचारकथन है। विकल्प है क्या चीज और होता किस तरह है ? अब इस बातको समझाते हैं।

यत्पुनः कैश्चिदुक्तं स्यात् स्थूललक्ष्योन्मुखैरिह ।
अत्रोपचारहेतुर्यस्तं ब्रुवे किल साम्प्रयम् ॥९०६॥

ज्ञानको सविकल्प कह देनेका कारण उपचार—जिन लोगोंने ज्ञानको या सम्यग्दर्शनको सविकल्प बतलाया उनकी दृष्टि है वह तो उपचारसे विकल्पात्मक है। वास्तवमें सम्यक्त्वमें और ज्ञानमें विकल्प नहीं है। उपचार क्यों है ? उपचार कहते हैं कि बात तो हो किसीमें और लगावें किसी अन्यमे। जैसे किसी क्रोधी लड़केसे कहते हैं कि यह लड़का आग है। तो क्या लड़का आग हो गया ? अथवा सीधा ही कह दिया जाय कि यह तो आग है तो क्या वह वास्तवमें आग है ? अरे वह तो लड़का है, लेकिन उसमें आग जैसी कुछ बात निरखकर तुलना करके क्रोधी उसे कह दिया जाता है तो इसे कहते हैं उपचारकथन। जैसे घी का घड़ा। बतलावो घीका घड़ा कहीं बनता है क्या ? मिट्टीका घड़ा बनता है। लेकिन उसमें विकल्पका सम्बंध है, इसलिए उपचारसे कहा जाता है घी का घड़ा। अच्छा घड़ेकी बात कुछ व्यवहारमें बन रही है, पर जैसे लोग शौच जिस लोटेमें जाया करते हैं उसे कहते हैं टट्टीका लोटा। भला बताओ वह लोटा टट्टीका है क्या ? अरे वह तो टीनका अथवा पीतल आदिका है। लेकिन वैसा कहनेका प्रयोजन यह है कि उसका सम्बंध लेकर उपचार किया जाता है। तो यह उपचरित कथन है कि ज्ञान सविकल्प है। विकल्प है किसी दूसरेका परिणमन और सम्बंध लगा दिया ज्ञानमें। क्यों सम्बंध लगा दिया ? कुछ तो कारण होगा ? साहचर्य है। विकल्प भी वहाँ बस रहा और ज्ञान भी बस रहा और ज्ञान उन विकल्पोंको जान रहा तो इस साहचर्यसे ज्ञानको सविकल्प कहा है, इसीको खुलासा करते हैं।

क्षायोपशमिकं ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत् ।
तत्स्वरूपं न ज्ञानस्य किन्तु रागक्रियास्ति वै ॥९०७॥

विकल्प रागक्रियाभूत होनेसे क्षायोपशमिक ज्ञानमें होने वाली प्रत्यर्थपरिणामिताकी निश्चयतः अतत्त्वरूपता—देखो जो ज्ञान बदलता रहता है, जिस ज्ञानके साथ क्षोभ भी रहा करता है, ऐसा ज्ञान कौन हो सकता है ? क्षायोपशमिक ज्ञान। ज्ञान दो प्रकारके हैं—क्षायोपशमिक और क्षायिक। क्षायिक ज्ञान तो केवलज्ञान रहता है। वहाँ तो यह विकल्प नहीं है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

क्षायोपशमिक ज्ञानमें यह बात है कि वह प्रत्येक अर्थके अनुसार परिणमता रहता है। जैसे जो अर्थ आया ज्ञानमें उसे जाना, अब फिर दूसरे अर्थको जाना तो अर्थ अर्थके प्रति परिणमता है, बदलता रहता है, यह बात रहती है क्षायोपशमिक ज्ञानमें। तो यह परिणमन होना ज्ञान का स्वरूप नहीं है, किन्तु यह तो रागकी क्रिया है। देखो—ज्ञानका काम तो जानना है। अब जानन जो बदलता है यह होता है रागकी प्रेरणासे, रागभावके कारण तो यह बदल जो है वह रागकी क्रिया है, अथवा ज्ञानके साथ जो क्षोभ है वह रागकी क्रिया है, यह ज्ञानकी क्रिया नहीं है। ज्ञानकी क्रिया तो जानन है। यहाँ परख लीजिए कि मैं ज्ञानस्वरूप हूं। मेरा काम जाननेका है। जाननेमें कोई ऐब नहीं होता, जानना जानना ही रहता है, जाननेमें तो यह भी ऐब नहीं लगा सकते कि वह देखो इस इस तरहसे बदलता रहता है। हाँ बदलता तो रहता है, इसको मना नहीं किया जा सकता। अभी कुछ जान रहे, अब कुछ जानने लगे, मगर इसमें ऐब है रागका। राग भीतर बैठा है, उससे इतनी अशक्ति आयी है कि इस शुद्ध जाननमें नहीं रह पाता। तो रागकी क्रियारूप है वह विकल्प, और वह विकल्प है ज्ञानके साथ-साथ इसलिए ज्ञानको सविकल्प कह दिया। तो विकल्पका सम्बंध लगा दिया ज्ञानके साथ, यही कहलाया उपचार।

प्रत्यर्थं परिणामित्वमर्थानामेतदस्ति यत्।
अर्थमर्थं परिज्ञानं मुह्यद्रज्यद्द्विषद्यथा ॥६०८॥

रागादिकी मुद्रा बनाते हुए ज्ञानमें प्रत्यर्थपरिणामिताका कारण रागादिभाव—ज्ञान में जो प्रत्यर्थ परिणामिपना है अर्थ पदार्थमें जो बदल-बदलकर ज्ञान होता है सो ठीक है और वहाँ पदार्थमें भी यही बात है कि प्रत्येक पदार्थमें अपने आपका परिणमन है उस परिणमनमें ज्ञान प्रत्येक पदार्थके प्रति मोह करता है, राग करता है, द्वेष करता है, याने पदार्थमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि बनी हुई है उससे जो राग बना और द्वेष बना, किसी पदार्थमें रागका परिणाम बना, पदार्थमें न बना, पदार्थका नाम लेकर आत्मामें ही रागका परिणाम बना, मगर जैसा पदार्थ है, परिणति है, यहाँ भी रागकी क्रिया चल रही है, उसका यह बदलना चलता है तो यह रागद्वेषके अनुसार ज्ञानमें भी बलिष्ट होने लगा। पर ज्ञानका काम बदलना नहीं है। बदलना काम है रागकी क्रियाका। लोग जब चाहे अनुभव करने लगते कि अब तो हम बड़ी उलझनमें हैं, बड़े झंझटमें हैं, वह उलझन और झंझट किस बातकी है? रागकी। स्वच्छन्द होकर किसी बातमें राग बढ़ाया, उसके साथ ज्ञान है। तो रागके विषयभूत होते हैं अन्य जीव और अन्य जीवोंकी कल्पना या परिणमन उसके आधीन हैं नहीं तब उनकी वृत्ति होने लगी कुछ प्रतिकूल। उस प्रतिकूलको देखकर यह मानने लगा खेद। तो इस तरह जितने भी खेद होते हैं जीवको तो उसका मूल कारण है रागमोह। तो ऐसा राग मोह जब जीवके साथ

Report any errors at vikasnd@gmail.com

लगा है तो इसका ज्ञान स्थायी कैसे रह सकता ? शुद्ध किसी विधिसे जान नहीं रहे, जान रहे निरन्तर बदलता हुआ, तब ऐसी शुद्धता ज्ञानमें कैसे प्राप्त हो सकती है ? तो ज्ञानमें जो संक्रमण होता है वह रागके कारण होता है।

स्वसंवेदनप्रत्यक्षादस्ति सिद्धमिदं यतः।
रागाक्तं ज्ञानमक्षान्तं रागिणो न तथा मुनेः ॥६०६॥

रागियोंके अशान्त रागाक्त ज्ञानकी संभवता — इस बातको आप सब अपने-अपने अनुभवसे भी जान सकते हैं कि रागसहित ज्ञान शान्त नहीं होता। जिस ज्ञानके साथ राग लगा है उस ज्ञानमें शान्ति नहीं आ सकती। तो ऐसा अशान्त ज्ञान, ऐसा रागलिप्त ज्ञान रागी पुरुषके होगा, वीतराग साधु संतके ऐसा राग मिला ज्ञान अथवा क्षोभ वाला ज्ञान नहीं होता। जो राग करे सो ही दुःखी होता है। तो ज्ञानमें जो यह बदल चल रही है, हम आपके ज्ञान जो स्थिर नहीं रह पाते, प्रत्येक पदार्थमें बदलते रहते हैं तो लोग इसे बड़ा बुद्धिमान कहते हैं। हम बहुत बढ़िया जानते हैं, अमुकको जाना, अमुकको जाना, नई-नई बातें जानते हैं, लेकिन अध्यात्मशास्त्र यह कहते हैं कि यह रागकी प्रेरणासे ज्ञानमें बदलना हो रहा है। भगवानका ज्ञान तो तीन लोक तीन कालका जानने वाला है, सदा जानने वाला है। जो जाना उसे फिर जानता ही रहना है, उसमें बदलना नहीं होता है। बदलना होता है अज्ञानियोंके, ज्ञानहीनोंके, अल्पज्ञोंके और इस बदलनेको संक्रमण कहा है। भगवानके ज्ञानको संक्रमणात्मक नहीं कहा। जिस समय जीव स्वानुभवमें रहता है उसे भी संक्रमणात्मक नहीं कहते हैं, क्योंकि उसका विषय एक शुद्ध आत्मतत्त्व चलता रहता है। तो जहाँ पदार्थ विषयभूत नये-नये हों, अपूर्व-अपूर्व हों उसे यहाँ बदलना कहते हैं। तो अपने-अपने अनुभवसे भी आप यह समझ सकेंगे कि रागमें जो ज्ञान बनता है उस ज्ञानके करते समय इसको क्षोभ रहता है और इसका बदलना चला करता है तो एकमें टिक नही सकता। जैसे लोग प्रायः पूछा करते हैं कि जब सामायिक करने बैठते हैं तो चित्त बहुत चंचल होता है, उसका क्या कारण है ? तो उसका उत्तर है कि आपके राग लगा है।....अच्छा, तो क्या राग और समयमें नहीं लगा है ? हाँ और समयमें भी लगा है, मगर और समयके रागमें तो आप भुक्त होनेका व्रत लेकर लगे हुए हैं इसलिए वह एक जगह बात, उपयोग जरा थोड़ी देरको टिका है तो दुनियाभरकी बातें नहीं याद रहतीं। संस्कार तो सारा है, किन्तु जब सामायिक करने बैठे तो आपने संकल्प यह किया कि हमें घरसे मतलब नहीं, दूकानसे मतलब नहीं, बस माला लेकर शान्तिसे बैठ गए, लेकिन भीतरमें योग्यता थी तो इस बनावटकी, सो स्वतंत्र बननेपर होता क्या है कि जितनी भीतरमें गल्तियाँ हैं अधिकतर वे सब उमड़ पड़ती हैं। कारण क्या है कि रागवान है, मन चंचल है, उसके कारण ज्ञान बदलता रहता है। उसका कारण है राग। तो रागसहित ज्ञान

क्षुब्ध होता है, वह शान्त नहीं रह सकता।

अस्ति ज्ञानाविनाभूतो रागो बुद्धिपुरस्सरः।
अज्ञातेर्थे यतो न स्याद् रागभावः खपुष्पवत् ॥६१०॥

बुद्धिपूर्वक रागकी क्षायोपशमिकज्ञानाविनाभूतता—राग दो प्रकारके होते हैं—बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक। बुद्धिपूर्वकके अनेक अर्थ हैं, पर यहाँ एक यह अर्थ लगाओ कि जो राग हमारी समझमें आ रहा, ज्ञानमें आ रहा, अनुभवमें आ रहा, जिससे हमपर दोष लगा करते हैं वह राग कहलाता बुद्धिपूर्वक, और जो राग समझमें नहीं आता, ज्ञानमें नहीं आ रहा ऐसे ऊँचे ज्ञानी संत पुरुषके भी श्रेणीमें रहने वाले साधु संतोंके जो ज्ञान होता है वह अबुद्धिपूर्वक राग है, और जैसे बताया था कि अबुद्धिपूर्वकके अनेक अर्थ हो जाते हैं। अबुद्धिपूर्वकका अर्थ जहाँ इतना ऊँचा लिया गया कि जिन ऊँचे साधु संतोंके एक शुद्ध ध्यान होनेके कारण रागका उन्हें परिचय नहीं रहता, राग उनके ज्ञानमें नहीं आ पाता। रागका उदय यद्यपि १०वें गुणस्थान तक है, फिर भी राग समझमें नहीं आ रहा तो यह भी अबुद्धिपूर्वक कहलाता है। और जो असंज्ञी जीव हैं उनके जो कुछ बर्त रही है, एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय आदिकके इनके भी राग अबुद्धिपूर्वक कहेंगे तो अर्थ जैसा जो कुछ सामने रख दिया जाय तो उसके अनुसार विचार चला करता है। यहाँ यह बात कह रहे हैं कि जो बुद्धिपूर्वक राग है वह क्षायोपशमिक ज्ञानका अविनाभावी है। अर्थात् जाना हो, समझमें आया हो तो वह राग महसूस हुआ ना। अज्ञान पदार्थमें रागभाव उत्पन्न नहीं हुआ और न जाना गया। जो पदार्थ ही नहीं है उसमें राग कैसे? जैसे किसीको राग होता है कि मैं गुलाबके फूलोंकी माला पहिनूँ, किसीको राग होता है कि मैं बेलाके फूलोंकी माला पहिनूँ, ऐसे ही क्या कोई यह भी राग करता है कि मैं आकाशके फूलोंकी माला पहिनूं? अरे आकाशका फूल ही कुछ नहीं तो उसका राग भी नहीं बनता। बुद्धिपूर्वक राग अज्ञात पदार्थमें नहीं होता, तो बुद्धिपूर्वक रागका क्षायोपशमिक ज्ञानके साथ सम्बंध है और जिनके बुद्धिपूर्वक राग होता है तो उनके ही ज्ञानमें संक्रमण होता है। सूक्ष्म संक्रमण तो ऊपर श्रेणियोंमें भी है, किन्तु जिसका लक्ष्य रखकर शंकाकार कह रहा है, उसका प्रकरण चल रहा है। यह जो हम आपका ज्ञान संक्रमण किया करता है इसका कारण है राग, और वह राग है बुद्धिपूर्वक। बुद्धिपूर्वक राग, यह विशेष कर्मबन्धका कारण है। तो प्रकरणमें यह बतलाया जा रहा कि ज्ञानकी बदलका कारण ज्ञानका स्वरूप नहीं, ज्ञानका स्वयं विकल्प नहीं, किन्तु वह रागकी क्रिया है और रागके कारण क्षायोपशमिक ज्ञानमें भी होता है विकल्प, सो यह उपचारकी बात यहाँ कही गई। चूंकि वह ज्ञान क्षायोपशमिक है, इसलिए ज्ञानमें सविकल्पताका उपचार किया गया है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

अस्त्ययुक्तलक्षणो रागश्चारित्रावरणोदयात् ।
अप्रमत्तगुणस्थानादर्वाक् स्यान्नोर्ध्वमस्त्यसौ ॥६११॥

कारणभेदसे व स्वरूपभेदसे ज्ञानका रागसे निरालापन एवं अप्रमत्त गुणस्थानसे पहिले पहिले बुद्धिपूर्वक रागकी संभवता—यह बुद्धिपूर्वक राग कैसे उत्पन्न होता है ? चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे । बुद्धिपूर्वक राग छठे गुणस्थान तक पाया जाता है । रागमें मिले ज्ञानमें कुछ अदल-बदल है, लेकिन राग तो राग ही है । राग हेय है । ज्ञानी जीवको यह श्रद्धा है कि राग सर्वत्र हेय है और रागकी प्रशंसा कभी-कभी की जाती है । जैसे भगवानकी भक्ति, इसमें जिनेन्द्रके गुणोंका अनुराग, तो गुणानुरागकी जो भक्ति की जाती है, प्रशंसा की जाती है तो यह प्रशंसा भी उस रागमें उस वैराग्य और ज्ञानके सम्बंधसे प्राप्त होती है । रागमें जो जितना अंश है रागका वह राग और आत्माका स्वरूप नहीं । वह तो छोड़ने योग्य ही है । तो रागके प्रति ज्ञानका ऐसा मनन है, चिन्तन है कि राग तो हेय ही है, वह उपादेय नहीं है, किन्तु किसी अवस्थामें मुकाबलेसे उपादेय माना जाता है अथवा किसी श्रेष्ठ ज्ञानके साथ रह रहा हो तो उसे उपादेय कहा करते हैं । बुद्धिपूर्वक राग जिसके कारण ज्ञानमें अदल-बदल होना, पदार्थोंको छोड़कर नये-नये पदार्थोंको जानना, ऐसा जो ज्ञानमें हो रहा है वह रागके कारण हो रहा है । ज्ञानका स्वरूप नहीं है कि वह इस तरह बदल-बदलकर जाने । देखो हमें ज्ञानका ही एक शुद्ध स्वरूप विदित हो जाय और उसे माना जाय कि यह मेरा स्वरूप है, यह मेरी वस्तु है, तो ज्ञानका यों शुद्ध स्वरूप विदित हो जाय, इससे ही कल्याणका मार्ग मिलेगा । मैं जानता हूं, इस पदार्थके कारण नहीं जानता हूं कि सामने यह चौकी है तो मैंने इसे जान लिया । जानता हूं तो स्वभावसे जानता हूं, उस रागको भी जानता हूं । देखो बहुत अन्तर्दृष्टि से समझियेगा कि आत्मामें रागभाव भी हो रहा है और ज्ञान भी चल रहा है तो अन्तरात्मा ज्ञानी पुरुष उस रागको भी जानता है—यह राग है, यह ज्ञान है तो वहाँ भी जो रागका जानना हुआ सो रागके कारणसे जानना नहीं हुआ, किन्तु ज्ञानने अपने ही स्वभावसे, अपनी ही परिणतिसे जाना । देखो यह है भेदविज्ञानकी पराकाष्ठा । राग अपने कारणसे हो रहा, ज्ञान अपने कारणसे हो रहा, राग अपने परिणमनमें हो रहा, ज्ञान अपने परिणमनमें हो रहा । यद्यपि दोनों हैं एक आत्मपदार्थमें और उस ही पदार्थमें परिणमन है, पर भेददृष्टि करके जब हम गुणोंको, परिणमनोंको न्यारा-न्यारा कह रहे हैं तो इस दृष्टिमें वे सब न्यारे-न्यारे हैं और वहाँ जो कुछ भी हम निर्णय बनावेंगे वह उस ही विधिसे बनेगा । राग रागमें है, ज्ञान ज्ञानमें है । मैं ज्ञानस्वरूप हूं, राग पौद्गलिक है । लो कैसा यहाँ अपनी उपयोगभूमिको साफ किया है ज्ञानीने कि जो मिश्रण हो रहा था, जो एक विकृत बन रहा था वह सब विश्लिष्ट दिख रहा है—राग राग है, ज्ञान ज्ञान है । दोनों एक कैसे हैं ? ज्ञान ज्ञानके कारणसे हुआ है, राग राग

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

के कारणसे हुआ है, एक कैसे ? ज्ञानका स्वामी मैं हूं, रागका स्वामी पुद्गल है । और थोड़ी देर बाद रागको पुद्गलके पास भेज दो—तुम्हारी चीज तुम रखो, ज्ञानको अपने पास ले लो, अपनी चीज तुम रखो, लो इस भेदविज्ञानने कैसा उपयोगभूमिको स्वच्छ किया ।

रागकी पौद्गलिकताका विवरण—अभी यहाँ रागका स्वामी जो पुद्गलको कहा है उसकी एक दृष्टि है । चूंकि रागका अविनाभाव, अन्वयव्यतिरेक कर्मके साथ है । कर्मके होनेपर राग हो, कर्मके न होनेपर राग न हो, इस दृष्टिको लेकर उसका स्वामी पुद्गलको कह दिया है । परिणमा तो यद्यपि यह जीव रागरूप, लेकिन जैसे हम यहाँ देखते हैं कि दर्पणके सामने हाथ किया तो हाथको छाया हुई । अब कितना सीधा जंच रहा कि हाथ हटाया तो छाया खतम, हाथ सामने किया तो छाया तैयार । हाथ हिलाया तो छाया हिली । इस बातसे यह पता पड़ा कि इस छायाके होने न होनेमें इस हाथका स्वामित्व माना जा रहा है । यद्यपि उपादान दृष्टिसे जिसमें प्रतिबिम्ब कहलाता है तो इस दृष्टिसे छायारूप परिणमने वाला वह दर्पण है । लेकिन अन्वयव्यतिरेक दर्पणके साथ नहीं है । जिसके साथ अन्वयव्यतिरेक है उसके प्रति कहा जा रहा है । हे राग ! तुम जिसके होनेपर होते और न होनेपर नहीं होते तुम तो उसके हो, मेरे मित्र कैसे हो ? तुम जावो पुद्गलके पास, मेरेको तुमसे मतलब नहीं है । तो ऐसा भेदविज्ञान करके इस ज्ञानीने अपनी उपयोगभूमिको स्वच्छ किया है । हाँ तो उस विकल्प की बात चल रही थी कि ज्ञान बदलता है, क्यों बदलता है ? ज्ञानके इस बदलनेमें अभी इसको जाना, अब अन्यको जाना, इस बदलमें कारण हमारा राग है, रागकी क्रिया है । ज्ञान अपने स्वरूपसे ऐसी बदल नहीं रखता, इस कारण ज्ञानको विकल्पात्मक उपचारसे कहा जाता है । ज्ञान स्वलक्षणतः स्वरूपतः विकल्पात्मक नहीं है ।

अस्ति चोर्ध्वमसौ सूक्ष्मो रागश्चाबुद्धिपूर्वजः ।
अर्वाक् क्षीणकषायेभ्यः स्याद्विवक्षावशान्न वा ॥९१२॥

अप्रमत्त गुणस्थानसे क्षीणकषाय गुणस्थान पर्यन्त अबुद्धिपूर्वक रागकी संभवता—कल यह बतलाया था कि बुद्धिपूर्वक राग प्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त रहता है । आज यह बतला रहे हैं कि अबुद्धिपूर्वक राग कहाँ तक रहता है ? जब प्रमत्त गुणस्थान तक बुद्धिपूर्वक राग है याने जान-समझकर अनुभव करते हुए जो राग होता है वह छठे गुणस्थान तक है । तो इससे यह सिद्ध हो ही गया कि अबुद्धिपूर्वक राग ७वें गुणस्थानसे होता है और रहता है क्षीण-कषायसे पहिले-पहिले तक याने १०वें गुणस्थान तक रहता है । अबुद्धिपूर्वक रागमें भी बहुत अन्तर है । ७वें गुणस्थानमें जो अबुद्धिपूर्वक राग है उससे सूक्ष्म ८वेंमें, उससे सूक्ष्म ९वें में, उससे सूक्ष्म १०वें में, परन्तु अबुद्धिपूर्वक यह राग अप्रमत्त गुणस्थानमें रहा, उससे पहिले बुद्धिपूर्वक राग चलता है । यह सब विवरण इसलिए किया जा रहा है कि शंकाकारने यह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

माना था कि ज्ञानचेतना वहाँ नहीं होती जहाँ परमें उपयोग रहा हो, जहाँ ऐसा राग चल रहा हो, उसी सिलसिलेमें यह सब कथन चल रहा है और आगे इसका निष्कर्ष बताया जायगा।

विमृश्यैतत्परं कैश्चिदसद्भूतोपचारतः ।
रागवज्ज्ञानमत्रास्ति सम्यक्त्वं तद्वदीरितम् ॥६१३॥

सम्यक्त्वको व ज्ञानको सविकल्प कहनेका कारण असद्भूत उपचार—शंकाकारको यह शंका क्यों उपजी कि सम्यक्त्व भी सविकल्प है और ज्ञान भी सविकल्प है ? उसकी दृष्टि यह रही कि देखो छठे गुणस्थान तक राग चलता है तो वहाँ तक जो ज्ञान हो रहा है और सम्यक्त्व बन रहा है वह भी सविकल्प बन रहा है। यों बुद्धिपूर्वक रागकी बात सोचकर असद्भूत उपचारसे रागसहित ज्ञानको निरखकर ऐसा कह दिया है कि ज्ञान सविकल्प है। असद्भूत उपचारका अर्थ यह है कि ज्ञान वास्तवमें विकल्पमय नहीं है। यह तो रागका विकल्प है। ज्ञानका काम कितना ? जानना। और विकल्प होता है, वह विकल्प क्या ज्ञानसे आया है ? वह रागसे उठा हुआ है। तो रागमें तो है यह विकल्प और उस रागके साथ चल रहा है ज्ञान तो लोग उस ज्ञानपर विकल्प को थोप देते हैं कि ज्ञान सविकल्प है। असद्भूत व्यवहारका अर्थ यह है कि विकल्प ज्ञानमें असद्भूत है, है तो नहीं उसका, पर हाँ साथ-साथ हो तो मिले हुए उन भिन्न पदार्थोंको अभेद कर देवें तो वह असद्भूत व्यवहार कहलाता है। जैसे आत्मा और शरीर ये एक जगहमें रह रहे हैं ना और वहाँ कोई कहे कि यह शरीर मेरा है तो यह असद्भूत उपचार हुआ। शरीर आत्माका है क्या ? शरीर भिन्न द्रव्य है, आत्मा भिन्न द्रव्य है, शरीर पौद्गलिक है, आत्मा चैतन्यस्वरूप है। जहाँ आत्मा है वहाँ शरीर है। तो यों कोई कह दे कि आत्माका शरीर है, यह शरीर मेरा है तो यह असद्भूत उपचार है, ऐसे ही यहाँ लगायें कि जिस आत्मामें ज्ञान चल रहा है उसी आत्मामें राग बन रहा है तो है तो रागमें विकल्प, मगर थोप देते हैं कि यह विकल्प ज्ञानमें है। इस तरह अभेदोपचारसे कहा जाय तो बुद्धि सावधान रहे, लेकिन शंकाकार तो सीधा ही कह रहे कि ज्ञान सविकल्प है और सम्यक्त्व सविकल्प है, लेकिन ज्ञानके साथ व सम्यक्त्वके साथ विकल्प नहीं है। अतः वास्तवमें सम्यक्त्वको और ज्ञानको सविकल्प नहीं कहा जा सकता।

हेतोः परं प्रसिद्धैर्यैः स्थूललक्ष्यैरितिस्मृतम् ।
आप्रमत्तं च सम्यक्त्वं ज्ञानं वा सविकल्पकम् ॥६१४॥

सराग सम्यक्त्व व सविकल्प ज्ञानकी प्रमत्तगुणस्थान पर्यन्त संभवताका स्थूल लक्ष्य वालों द्वारा कथन—ज्ञान और सम्यक्त्व कहाँ तक सविकल्प पाये जाते हैं, यह बतला रहे हैं। इस श्लोकमें अभी यह निर्णय बताया था कि ज्ञानका काम तो जानना है, विकल्प उसमें नहीं

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है। विकल्प तो रागमें चलता है, फिर भी चूंकि एक आधारमें ज्ञान भी है और राग भी है, अतः ज्ञानको भी सविकल्प कह दिया तो यह कहलाया असद्भूत उपचारनयसे। इस तरह भी सविकल्प ज्ञान कहाँ तक रहता है ? तो यहाँ कह रहे हैं कि यह सराग सम्यक्त्व और ज्ञान प्रमत्त गुणस्थान तक रहता है। तब इस तरहकी सविकल्पता छठे गुणस्थान तक कही जा सकती है। प्रमत्तविरत गुणस्थानका अर्थ क्या है ? जहाँ सम्यक्त्व जग गया, महाव्रत हो गया, किन्तु प्रमादमें है, शिष्योंको समझाना, उपदेश करना, विहार करना, आहार करना ये सब प्रमाद कहलाते हैं। तो इन प्रमाद स्थितियोंमें रह रहा है वह विरक्त, इस कारण उसे प्रमत्त-विरत कहते हैं। यह विकल्प ६वें गुणस्थानमें है, रागकी दशामें है, जिसको वह अनुभव कर सके। हो तो रहा है राग, मगर विकल्प नहीं उठ रहा तो वहाँ अबुद्धिपूर्वक राग कहा है। तो ज्ञान और सम्यक्त्व वहाँ निर्विकल्प कहा जाता है।

ततस्तूर्ध्वं तु सम्यक्त्वं ज्ञानं वा निर्विकल्पम्।
शुक्लध्यानं तदेवास्ति तत्रास्ति ज्ञानचेतना ॥९१५॥

प्रमत्त गुणस्थानके ऊपरके गुणस्थानोंमें निर्विकल्प सम्यक्त्व व ज्ञानका उद्घोष— प्रमत्त गुणस्थानसे ऊपर याने ७वें गुणस्थानसे लेकर अन्त तक सर्वत्र सम्यक्त्व और ज्ञान निर्विकल्प है। देखो सूक्ष्मदृष्टिसे तो यह बात है कि ज्ञान और सम्यक्त्व विकल्पसहित नहीं होता, लेकिन साहचर्यसे, उपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे कहा जाता है ज्ञानको सविकल्प। तो ऐसा सविकल्प ज्ञान और सविकल्प सम्यक्त्व छठे गुणस्थान तक सम्भव है। इससे आगेके गुणस्थानमें तो निर्विकल्प है और इसीको कहते हैं शुद्ध ध्यान और यह ही कहलाती है ज्ञान-चेतना। देखो ज्ञानचेतना यद्यपि चौथे गुणस्थानसे है, लेकिन जिस-जिस दृष्टिसे देखें उस-उस दृष्टिसे वैसा समझना चाहिए, और जहाँ राग बिल्कुल न हो, आत्मामें स्वरूप उपयुक्त हो, शुद्धोपयोग बन रहा हो वह ज्ञानचेतना सप्तम गुणस्थानसे मानी गई है।

प्रमत्तानां विकल्पत्वान्न स्यात्सा शुद्धचेतना।
अस्तीति वासनोन्मेष केषाञ्चित्स न सन्निह ॥९१६॥

चतुर्थ गुणस्थानसे प्रमत्तविरत गुणस्थान तक ज्ञानचेतना न माननेकी वासनोन्मेषता— कोई लोग ऐसा कहते हैं कि छठे गुणस्थान तक तो बुद्धिपूर्वक राग है, विकल्पात्मक दशा है तो वहाँ शुद्धचेतना न होनी चाहिए। शुद्धचेतनासे मतलब यहां ज्ञानचेतनाका है। तो किन्हीं पुरुषोंके ऐसी समझ बैठी है कि ज्ञानचेतना ७वें से ही प्रारम्भ होती है, लेकिन यह कथन वास्तवमें ठीक नहीं है, क्यों ठीक नहीं है, इसका उत्तर आगे देंगे। पहिले समझ लीजिए— ज्ञानचेतनासे मतलब क्या ? इस बातको ध्यानमें रखिये—दो-चार बार स्मरण करो, यह बड़ा काम देगा जीवनमें। ज्ञानचेतनाका अर्थ क्या है ? मेरे आत्माका जो स्वभाव है, सहज स्वभाव

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है उस ज्ञानस्वरूप ज्ञानस्वभावमें 'यह मैं हूं' इस प्रकारका अनुभव करना सो ज्ञानचेतना है। देखो अनुभव तो सब कर रहे हैं कुछ न कुछ। कोई ऐसा अनुभवता है कि मैं गृहस्थ हूं, त्यागी हूं, साधु हूं, अमुकका बाप हूं, अमुकका पुत्र हूं, इस नामका हूं, इस पोजीशनका हूं, धनी हूं, सोचते हैं ना सब लोग कुछ न कुछ। तो ऐसा सोचना यह तो है अज्ञानचेतना, विपरीत बात, और जहाँ यह चिन्तन हो, मनन हो, अनुभव हो कि मैं सहज ज्ञायकस्वरूप हूं, अन्यरूप नहीं हूं, शरीर रूप नहीं, रागरूप नहीं, केवल जो एक ज्ञानप्रतिभास है वह शुद्ध प्रकाश तन्मात्र मैं हूं, ऐसी कोई दृढ़तासे प्रतीति कर ले तो उसको ज्ञानचेतना कहा जाता है। ऐसी ज्ञानचेतना अगर इस जीवनमें नहीं है तो जीवन बेकार रहेगा। कल्पना करते जावो, मानते जावो कि मैं अमुक कुलका हूं और कभी कोई छू ले, अपवित्र हो जाय वहाँ क्रोध हो जाय, अरे मैं तो ऐसा धर्मात्मा हूं, मुझे इसने छू लिया, यदि ये सारी बातें जगती हैं तो बतलावो कि वह शुद्ध है कहाँ ? भीतर तो अशुद्ध बना हुआ है। भीतर तो कषायसे प्रेम बना हुआ है। मैं अमुक हूं, बाह्यपदार्थमें यह मैं हूं, यह मेरा है, ऐसा अनुभव करना विष है, विपदा है, विडम्बना है, अज्ञान है, और यह अनुभव करना कि मैं तो शुद्ध ज्ञानस्वभाव हूं, यही अमृत है, यही मोक्षका हेतुभूत है। तो जो ज्ञानस्वरूपमें यह मैं आत्मतत्त्व हूं, ऐसा अनुभव करता है उसके कहलाती है ज्ञानचेतना। तो यह ज्ञानचेतना जहाँसे सम्यक्त्व है तहाँसे है। सम्यग्दर्शन हो, ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्वका अनुभव जगे तो ज्ञानचेतना हो ही गई, लेकिन कुछ लोग कहते हैं कि ज्ञानचेतना सप्तम गुणस्थानसे प्रारम्भ है, उनका कथन युक्त नहीं है। क्यों युक्त नहीं है सो बतलाते हैं।

यतः पराश्रितो दोषो गुणो वा नाश्रयेत्परम्।
परो वा नाश्रयेद्दोषं गुणञ्चापि पराश्रितम् ॥६१७॥

अन्यके आश्रित दोष व गुणका अन्य किसीका आश्रय करनेका असामर्थ्य—देखो—व्यवहारमें यदि यह समझा जाय कि देखो दूसरेका दोष दूसरेपर न मढ़ना चाहिए तो समझ में आता कि यह न्यायकी बात कह रहे हैं। किसीने कसूर किया हो तो उसका कसूर दूसरेपर न मढ़ो, यह बात भली जंचती है। जो कसूर करता है सो कसूर वाला है, वह दूसरेपर क्यों मढ़े ? आप सोचेंगे कि ऐसा तो कोई नहीं करता। दूसरेने कसूर किया हो और दूसरेपर कोई मढ़े, ऐसा कौन करता है ? अरे करते हैं बहुतसे लोग। जब क्रोध आता है तो दूसरेका दोष दूसरेपर मढ़ते हैं कि नहीं। जैसे कभी कोई स्त्री अपने पतिसे रूठ गई तो वह कहीं बर्तन पटक देती है, कहीं अपने बच्चोंको पीटती है। तो यह दूसरेका दोष दूसरेपर मढ़ना ही तो हुआ। अच्छा अन्य भावोंमें देखो—जब लोभ भाव होता है, मान कषाय जगती है तो ऐसी अनेक घटनायें होती हैं कि दूसरेका दोष दूसरेपर जोड़ दिया जाता। यह बात भली नहीं, बल्कि अन्यायकी है। यह बात जरा यहाँ घटित करो। जो लोग कहते हैं कि ज्ञान सविकल्प

Version 1

है, सम्यक्त्व सविकल्प है और ज्ञानचेतना सप्तम गुणस्थानसे पहिले असम्भव है, उनका क्या प्रयास है ? दूसरेके आश्रयमें रहने वाला दोष दूसरेपर मढ़ दिया जानेका प्रयास है। राग और ज्ञान इन दो बातोंमें छाँटो—विकल्प किसका दोष है ? रागका है, ज्ञानका दोष नहीं है। अगर रागका दोष ज्ञानपर मढ़ा जा रहा है कि ज्ञान सविकल्प है तो यह विफल प्रयास है, क्योंकि दूसरेके आश्रयसे होने वाला गुण अथवा दोष दूसरेके आश्रय हो ही नहीं सकता। मढ़ते जावो दूसरेके दोषको किसी दूसरेपर, किन्तु क्या हो जायगी वह परिणति दूसरेकी ? इस आश्रयसे जो दोष होता है अथवा गुण हो वह उसके ही आश्रयमें कहलायेगा, दूसरेके आश्रयमें न कहलायगा। तो जो लोग इस सिद्धान्तकी अवहेलना करते हैं, दूसरेका दोष दूसरेपर मढ़ते हैं, दूसरेका गुण दूसरेपर मढ़ते हैं वे भूल करते हैं। प्रकृत बात क्या चल रही थी कि ज्ञान सविकल्प है, सम्यक्त्व सविकल्प है, ऐसा जो लोग निश्चयसे कहते हैं वे भूलमें हैं, क्योंकि किसीका दोष किसीपर मढ़ दिया है। किसका है वह विकल्प दोष ? रागका। यही बात अगले श्लोकमें कहते हैं।

पाकाच्चारित्रमोहस्य रागोस्त्यौदयिकः स्फुटम्।
सम्यक्त्वे स कुतो न्यायाज्ज्ञाने वाऽनुदयात्मके ॥६१८॥

चारित्रमोहपाकज औदयिक रागका अनुदयात्मक सम्यक्त्व व ज्ञानमें अभाव—ऊपर के श्लोकमें जो यह कहा था कि जिसका जो दोष है वह उसके ही आश्रय कहलायगा, दूसरे के आश्रय न कहलायगा, यह किस बातपर कहा जा रहा था ? यही बात इस छन्दमें कही जा रही है। चारित्रमोहके उदयसे औदयिक राग उत्पन्न होता है। जो राग जगता है, प्रीति स्नेह, ये चारित्रमोहनीयके उदयसे हो रहे हैं वे सम्यक्त्वमें अथवा ज्ञानमें कैसे हो सकते हैं ? क्योंकि सम्यक्त्व और ज्ञान चारित्रमोहके कारणसे नहीं बना है। चारित्रमोहके अनुदयरूप है वह ज्ञान और सम्यक्त्व। तो चारित्रमोहके उदयसे होने वाला राग विकल्पका, दोष चारित्र-मोहके उदयसे सम्बंध न रखने वाले अनुदयात्मक ज्ञान और सम्यक्त्वमें कैसे लगाया जा सकेगा ? बड़ा कठिन काम किये जानेका साहस हो रहा है। अच्छा देखो—आप लोग पकौड़ी खाते हैं, लेकिन उनमें नमक न पड़ा हो तो क्या वे अच्छी लगती हैं ? नहीं अच्छी लगती ना, और अगर खूब अच्छा नमक पड़ा हो तो अच्छी लगती हैं। तो उस पकौड़ीको खाते समय आप यह अनुभव नहीं कर पाते कि यह है नमकका स्वाद और यह है मूंगकी दालका स्वाद। जब आप नमक अलगसे खायें और मूंगकी दाल अलगसे खायें तो पता पड़ेगा कि यह है नमक का स्वाद और यह है मूंगकी दालका स्वाद। जब पकौड़ी बनाकर खाते हैं तो उसमें अलग-अलग स्वाद न मालूम होकर एकरस मालूम होते हैं और आप उनको खाते हुए खूब मौज मानते हैं। बस इसी तरह ज्ञान और राग दोनोंका स्वाद निराला-निराला है। ज्ञानका अनु-भव और तरहका है, रागका अनुभव और किस्मका है, मगर अज्ञानी जीव, आसक्त जीव,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मोही विषयप्रेमी लोग जो कुछ अनुभव करते हैं उस अनुभवमें उनको यह प्रकाश नहीं मिल पाता कि ओह ! इसमें ज्ञान तो यह है, राग यह है, यह ज्ञानका स्वाद है, यह रागका स्वाद है, ऐसे जुदे अनुभवमें नहीं आ पाता। लेकिन जो ज्ञानी पुरुष हैं, विवेकी हैं और इस बातपर ध्यान बनावें कि पकौड़ी खाते समयमें जो कुछ भलासा लग रहा है, यह नमकके प्रतापसे लग रहा, और नमकका ऐसा स्वाद होता है और उसके होनेसे इस तरहका स्वाद बना है और न नमक हो तो ऐसा पकौड़ीका फसफस स्वाद रहता है। कुछ ध्यान दें तो जान तो सकते हैं। इसी तरह ज्ञान और राग यद्यपि एक आधारमें हैं, फिर भी विवेक करें तो समझ सकते हैं कि अहो ! इस परिणतिमें दो बातें मिली हुई हैं—ज्ञान और राग। तो ज्ञानका जो यह अंश है, रागका यह अंश है।

रंगीन प्रकाशमें रंग और प्रकाशके भेदकी भांति राग और ज्ञानमें भेदका प्रदर्शन—जैसे हरा बल्ब लगाया, प्रकाश हरा हो गया, उसको देखकर यह भेद नहीं कर पाता कोई कि प्रकाश तो प्रकाश होता है। वह न हरा होता, न पीला होता, किन्तु वह तो मात्र प्रकाश होता है, और जो यह हरापन है यह तो बल्बमें जो हरा रंग लगा है उसका है यह भाव, औपाधिक है यह। बात तो ऐसी है, लेकिन उस प्रकाशको देखकर लोग कहते तो यही हैं कि हरा प्रकाश है। लेकिन जो विवेकी पुरुष हैं वे जानते हैं कि प्रकाशका क्या स्वरूप है ? अच्छा बतलावो—प्रकाशका असली स्वरूप कैसा है ? प्रकाशका रंग हरा है क्या ? नहीं। प्रकाशका रंग पीला है क्या ? नहीं। काला, नीला, लाल, सफेद आदि किसी रंगका है क्या ? नहीं। जब कभी आप बहुत तेज रॉड जलाते हैं या दूधिया बल्ब जलाते हैं तो उसके प्रकाशमें कितनी ज्यादा सफेदी रहती है, वह भी प्रकाशका रंग नहीं। अरे जो प्रकाश है वह एक स्वच्छ प्रकाश है। अब आप हैरानीमें होंगे कि उस प्रकाशको समझें कैसे ? तो यह प्रकाश किसी न किसी रंगोंके साथ हमें यहाँ दिख रहा है, लेकिन भेद करें तो प्रकाशका अर्थ केवल प्रकाश है, किसी प्रकारका रंग नहीं है। हाँ कह सकें तो उसे साधारणतया स्वच्छताका रूप कह लीजिए। उसे कुछ सफेद कह लीजिए, पर इतना तो निश्चित है कि हरा, पीला आदि प्रकाश नहीं होता, ऐसे ही यहाँ देख लो—ज्ञान और राग दोनों बातें चल रही हैं। जान रहे हैं व राग कर रहे हैं मिली परिणति है। उन मिली परिणतियोंमें आप यह भेद कर देते हैं कि जितना अंश केवल प्रतिभासका है वह तो है ज्ञानकी असली सम्पदा स्वरूप, और जो तर्क-वितर्क, विचार, कल्पना, राग आदि उठ रहे हैं वे ज्ञानकी चीज नहीं हैं, वह रागभाव चारित्रमोहके उदयसे हुआ है। यह भेदविज्ञान बड़ा कठिन है, लेकिन यह भेदविज्ञान जिनके जग गया उनके स्पष्ट मोक्षमार्ग है।

राग विकल्प और ज्ञानमें स्वरूपभेद होनेसे ज्ञानको सविकल्प कहनेकी अयुक्तता—देखो जीव शरीरसे न्यारा है, यह बात समझमें आ रही। बहुत जल्दी आयगी, और

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

यहाँ हम आपकी तो बात क्या गाँवोंमें, देहातोंमें बिल्कुल अनपढ़, मूर्ख लोग भी बता देंगे कि शरीरसे जीव न्यारा है। कह तो देंगे एक बार। कोई गाँवमें मर गया हो तो उसे देखकर वे कह बैठते हैं कि देखो शरीर तो यहीं रह गया और हंसा अकेला चला गया। तो वे भी कह देते हैं कि जीव शरीरसे न्यारा है। इतनेमें तो भेदविज्ञानकी कोई खासी कला नहीं समझी। ढंगसे कोई इसे भी जाने तो वह भी कला है। शरीरसे जीव न्यारा है, कर्मोंसे जीव न्यारा है। यहाँ तक तो भिन्न द्रव्यकी बात है, किन्तु कोई यह समझ सके कि रागसे जीव न्यारा है, कषायसे जीव न्यारा है, ऐसा भेदविज्ञान विरलेको होता और इसे समझनेके लिए यह कुञ्जी है कि जीवकी जगह हम ज्ञान नाम बोलें—ज्ञान है सो जीव है। जीव और ज्ञान निराले नहीं हैं। जीवके बजाय ज्ञानको बोल लो। ज्ञान रागसे न्यारा है। झट समझमें आ जायगा। ज्ञान का स्वरूप जानन है, प्रतिभास है, रागका स्वरूप विकल्प है। तो लो ज्ञान रागसे न्यारा हुआ। इस तरहका ज्ञान तो विशुद्ध है, प्रतिभासस्वरूप है और राग एक विकल्प है, चारित्र-मोहनीयके उदयसे हुआ है। तो विकल्पका दोष तो रागमें हुआ। उसका कारण चारित्रमोह का उदय है और उस दोषको लपेटा जा रहा है ज्ञानके साथ। बस यह भूल है, अगर असद्-भूत उपचारसे कहें तो कह दें, लेकिन इसका अर्थ क्या है कि वास्तवमें ऐसा नहीं है। जैसे कोई कहे कि देखो तुम अगर झूठ बुलवाओ तो बात ऐसी है, तो उसका अर्थ क्या हुआ कि बात ऐसी नहीं है। कोई किसी सच बातको कहना चाहता था और उसे दबाव डाले कोई कि ऐसा मत कहो। तो कैसे कहें ?····ऐसा कहो—अच्छी बात। सुनो देखो भाई हमसे अगर झूठ बुलवाओ तो बात ऐसी है। कह दिया उसने, क्या कहा ? सच कह दिया। तो ऐसे असद्भूत उपचारनयसे अगर कहलवायें तो ज्ञान सविकल्प है। इसका अर्थ क्या हुआ कि वास्तवमें ज्ञान सविकल्प नहीं है।

अनिघ्नन्निह सम्यक्त्वं रागोऽयं बुद्धिपूर्वकः।
नूनं हन्तुं क्षमो न स्याज्ज्ञानसंचेतनामिमाम् ॥६१६॥

सम्यक्त्वका घात न कर सकने वाले अबुद्धिपूर्वक रागमें ज्ञानसंचेतनाका घात करने की अशक्यता—ज्ञान और रागमें फर्क है, स्वरूपभेद है। तब जिस जीवके सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ है उसकी जो ज्ञानचेतना जगी है उस सम्यक्त्वको यह राग नष्ट नहीं कर सकता। बुद्धि-पूर्वक राग है चौथे गुणस्थानसे छठे गुणस्थान तक श्रावकोंके, साधुवोंके और अविरत सम्य-ग्दृष्टिके राग चल रहा है, लेकिन यह राग उनके सम्यक्त्वका घात करनेमें समर्थ नहीं है। जैसे संज्वलन कषाय महाव्रतका घात करनेमें समर्थ नहीं है, इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरण सम्बंधी राग सम्यक्त्वका विनाश करनेमें समर्थ नहीं है। जो बुद्धिपूर्वक राग चल रहा उसमें यह सामर्थ्य नहीं कि सम्यग्दर्शनका घात कर दे। सम्यक्त्व तो अपने स्वरूपमें निर्भर है, पर

Report any errors at vikasnd@gmail.com

राग लग रहा है साथमें जीवमें । उस साहचर्यसे लोग सविकल्प कह देते हैं, पर वास्तवमें नहीं हैं । भींतपर कलई पोत दी तो भींत सफेद हो गई, लेकिन क्या भींत सफेद है ? अरे सफेद तो कलई है । जो कलई अभी ढेलाके रूपमें सफेदीको लिए हुए थी वही कलई घोल देनेसे भींतपर कूंची फेर देनेके उपायसे ऐसी फैल गई । छटांकभर कलई जो छोटी जगहमें थी वही सारी कलई देखो अब १०० हाथमें फैल गई । तो कलईमें कलई फैली । सफेद कलई है, भींत नहीं । लेकिन साहचर्य है, इसलिए कहते कि भींत सफेद है । यह भी एक मोटा दृष्टान्त है, ऐसे ही यहाँ देखें कि राग हो रहा है तो रागमें राग है, राग ही तो विकल्प है । उस विकल्प रूप तो राग ही है, लेकिन वहाँ साथ ज्ञान अवश्य है । ज्ञान न हो तो राग भी कैसे फूटे ? रागकी मुद्रा कैसे बने ? तो उस रागकी मुद्रा बनायी ज्ञानने । तो रागका अपराध ज्ञानपर मढ़ दिया । जैसे दो आदमी लड़ते हों और कोई तीसरा व्यक्ति बचानेको पहुंचा तो लड़ने वालोंमें जो क्रूर है वह उसको छोड़कर बचाने वालेपर टूट पड़ता है । तो क्रोध जो आया वह उसपर उतार दिया जाता है । तो ऐसे ही राग हो रहा है जीवमें और उसने ज्ञानको जाना, लेकिन ज्ञानने तो उसकी मुद्रा बनायी कि राग कैसे अनुभवमें आये ? सो ज्ञानने तो ऐसा सहयोग दिया, लेकिन लोग रागका विकल्प ज्ञानमें लगा देते हैं कि यह ज्ञान सविकल्प हुआ है । पर वस्तुतः ज्ञान और सम्यक्त्व दोनों सविकल्प नहीं हैं । इससे भ्रम मत करना कि ज्ञानचेतना संक्रमण करती है या विकल्प करती है या चतुर्थगुणस्थानसे प्रमत्तगुणस्थान तक होती नहीं है ।

नाप्यूह्यमिति शक्तिः स्याद्रागस्यैतावतोपि या ।
बन्धोत्कर्षोदयांशानां हेतुर्दृग्मोहकर्मणः ॥६२०॥

दर्शनमोहका बन्ध, उत्कर्ष व उदय कर देनेकी रागमें शक्ति बतानेका शंकाकारका प्रयास—आत्माके अपने अन्दरकी विभूतिका वर्णन चल रहा है । यह बात अपनी ही है, इसके समझनेकी रुचि बढ़ायें और अपने पाये हुए मन और ज्ञानका सदुपयोग करें । बात कठिन यों लगती है अपनी कि विषयोंमें रुचिका संस्कार जबरदस्त बना है तो मन लग जायगा गप्पोंमें, सरल प्रवचनोंमें, मनपसंदकी बातोंमें, क्योंकि वैसा तो संस्कार बना ही है, लेकिन जो बात आत्माका नियमसे भला करेगी, संसारके संकटोंसे सदाके लिए छुटकारा दिलायेग, वह बात यद्यपि कुछ कठिन लगती हो, किन्तु यह श्रद्धा करें कि मुझे तो यह ही समझना है । कितना ही कठिन हो, दसों बार उसका मनन करें, उसको खूब गुनें, वह इतना सरल हो जायगा जैसे कि वह अपने ही पास है । चर्चा यह चल रही थी कि जिस समय इस जीवको अपने सहज ज्ञानस्वरूपका परिचय होता है, अनुभव जगता है उस समय इसके ज्ञानचेतना प्रकट होती है और तबसे फिर यह किसी भी परपदार्थमें, परभावमें आत्मीयताका, अहंताका, कल्याणका विश्वास नहीं रखता । उसकी प्रतीति यह रहती है कि जो ज्ञान है सो ही मैं हूं ।

http://sahjanandvarnishastra.org/

मैं ज्ञानको ही करता हूं, ज्ञानको ही भोगता हूं, ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है। इसके अतिरिक्त परमाणुमात्र भी मेरा कुछ नहीं है, ऐसी प्रतीतिको कहते हैं ज्ञानचेतना। इस ज्ञानचेतनाके बारे में पहिले शंकाकारने तो यह कहा था कि यदि अपने ज्ञानस्वरूपमें उपयोग न हो तो ज्ञानचेतना मिट जायगी, मिथ्यात्व मिट जाना चाहिए। उसका उत्तर भली-भाँति दिया जा चुका है कि भाई ज्ञानचेतना लब्धिरूप है और उपयोगरूप भी है। उपयोगरूप ज्ञानचेतना कभी-कभी सम्यग्दृष्टिके होती है, किन्तु लब्धिरूप ज्ञानचेतना निरन्तर रहती है और उस ज्ञानचेतनाके कारण सम्यक्त्व है और संवर निर्जरा है। उपयोगमयी ज्ञानचेतना न हो तो इसका सम्यक्त्व, संवर, निर्जरा मिट नहीं सकती। होगा स्वानुभव, स्वोपयोग तो वह लब्धिकी वृद्धिका कारण हो जायगा, पर जितने भी गुण दोष होते हैं वे आत्मामें अपनी योग्यतानुसार होते हैं। इसका समाधान हो चुकनेके बाद अब यहाँ शंकाकार यह कह रहा है कि सम्यग्दृष्टि जीवके राग तो है ही, कुछ पदोंमें जीवके राग रहता है तो रागसे तो बड़ा खतरा है। रागकी ऐसी शक्ति है कि जो दर्शनमोहनीय कर्मका बंध करा दे, दर्शनमोहका उत्कर्ष करा दे, उदय ला दे। तो जब राग है तब दर्शनमोहका उदय आ बैठेगा और सम्यक्त्व मिट जायगा। लो उस तरह न सही तो इस तरह मान लो कि जब किसी परपदार्थकी ओर उपयोग है तो उसके राग भी है और राग होनेसे उसका सम्यक्त्व मिट जायगा। इस पद्यमें ऐसी शंका बताकर कहते हैं कि ऐसी कल्पना न करनी चाहिए। रागमें ऐसी शक्ति है कि दर्शनमोहनीयका उदय ला दे और इस तरह ज्ञानचेतना यह सम्यक्त्व मिट जाय, ऐसी तर्कणा न करनी चाहिए, क्योंकि रागको अगर मिथ्यात्वके उदयका कारण मान लिया जाय तो इसमें दोष आता है, वह क्या दोष है सो सुनो—

एवं चेत् सम्यगुत्पत्तिर्न स्यात्स्यात् दृगसंभवः।
सत्यां प्रध्वंससामग्र्यां कार्यध्वंसस्य सम्भवात् ॥९२१॥

रागको दर्शनमोहोदयका कारण मान लेनेपर सम्यक्त्वकी सदा अनुत्पत्तिका प्रसंग— शंकाकार कह रहा है कि रागभाव दर्शनमोहनीयके बंध, उत्कर्ष और उदयका कारण हो सकता है। यदि ऐसा मान लें तो इसका अर्थ यह होगा कि फिर सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। रागके कारण यदि मिथ्यात्वका उदय मान लें तो राग तो अनादिसे जीवके है ही। मिथ्यात्व कैसे मिटेगा? सम्यक्त्व कैसे बनेगा? तो रागके कारणसे न सम्यक्त्व मिटता, न मिथ्यात्व आता, यद्यपि थोड़ासा यहां यह फर्क डाल सकते हैं जो अनन्तानुबंधी राग है या मिथ्यात्वके साथ रहने वाला राग है वह तो सम्यक्त्व नहीं होने देता, ठीक है, मगर वहां यह बात तो पड़ी है कि मिथ्यात्वका उदय चल रहा है। असली कारण तो मिथ्यात्वका उदय है और अनन्तानुबंधीका उदय जिसके आया उसके सम्यक्त्वका विनाश होता है, किन्तु दर्शनमोह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

का उदय तो नहीं बनता। बात यद्यपि सही है, पर इतने मात्रसे यह नियम तो न बनाया जायगा कि राग दर्शनमोहका उदय ला दे, ध्यानसे सुननेकी बात है और फिर भी यदि समझ में न आया तो यह आपके लिए उलाहना बनेगा कि बीसों वर्ष स्वाध्याय करते हो गए और जैनधर्मके बच्चोंकी अ आ की बात भी नहीं समझमें आती, यह तो जैनसिद्धान्तके प्रारम्भको बात कही जा रही है। यदि इसकी ओर रुचि नहीं है या समझमें नहीं आता तो समझो कि हमने तो अब तक मन ही बहलाया, धर्ममें प्रवेश नहीं किया। चर्चा चल रही है कि सम्यग्दर्शन तो होता है मिथ्यात्वके अभावसे और राग होता है चारित्रमोहके उदयसे। तो चारित्रमोहके उदयसे होने वाला राग सम्यक्त्वका विनाश करनेमें असमर्थ है। एक थोड़ेमें अनन्तानुबंधीके उदयकी बातको यों गौण कर दें कि वह तो थोड़े ही समयमें मिथ्यात्वका उदय आने का है और एकमें रागकी औपचारिक कारणता देखकर सब रागमें नियम तो नहीं बनता। तो रागभाव सम्यग्दृष्टिके रहता है। जब तक वह गृहस्थीमें है अथवा प्रमत्तविरत गुणस्थान तक है, तो रहा आये, मगर उस रागमें यह सामर्थ्य नहीं है कि दर्शनमोहका उदय ला दे, या सम्यक्त्वका विनाश कर दे। पहिले शंकाकारने यह कहा था कि जब राग अवस्था आती है तो वहां ज्ञानचेतना कैसे रह सकती है ? उसका उत्तर पानेके बाद अब यह शंकाकार दूसरे ढंगसे आक्रमण करके अपनी बातको रखना चाह रहा है। शंकाकारका यहाँ यह अभिप्राय है कि चलो— रागभाव होनेसे सम्यक्त्वका घात नहीं होता, लेकिन राग होनेसे दर्शनमोहका उदय तो आ जायगा। दर्शनमोहका उदय आया कि सम्यक्त्व मिटा, मिथ्यात्व आ गया। बात तो यह ही कही है, मगर दूसरे शब्दोंमें बात पेश की जा रही है कि सम्यक्त्वके राग है, परपदार्थकी ओर उपयोग है तो दर्शनमोहका उदय आ जायगा। समाधान यहां यह दे रहे हैं कि रागभाव यदि दर्शनमोहका उदय करानेमें या बन्ध करानेमें समर्थ हो तब तो आत्मामें सम्यक्त्व कभी भी नहीं जग सकता। इसी विषयको और स्पष्ट करते हैं।

न स्यात्सम्यक्त्वप्रध्वंसश्चारित्रावरणोदयात्।
रागेणैतावता तत्र दृङ्मोहेऽनधिकारिणा ॥६२२॥

चारित्रावरणके उदयसे होने वाले रागका दर्शनमोहमें अनधिकार—राग कैसे होता है ? किसी कर्मके उदयका निमित्त पाकर। कौनसे कर्मके उदयके निमित्तसे ? चारित्रावरणके उदयसे अथवा कहो चारित्रमोहनीयकर्मके उदयसे रागभाव होता है, सो उस रागभावसे अथवा कहो चारित्रमोहनीयके उदयसे सम्यक्त्वका घात नहीं हो सकता। रागभावका यह अधिकार नहीं है कि वह दर्शनमोहनीय कर्मके बारेमें कुछ कर सके। इसी कारण तत्त्वार्थसूत्रमें ८वें अध्यायमें जहाँ कर्मके नाम लिए गए हैं वहाँ मोहनीयका काम दो भेदोंमें लिया है— दर्शनमोह और चारित्रमोह। दर्शनमोहके उदयसे मिथ्यात्व होता है, रागभावके कारण या चारित्रमोहके

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

उदयसे मिथ्यात्व नहीं होता, सम्यक्त्वका घात नहीं होता, यहाँ वस्तुस्वरूप बताया जा रहा है। कहीं यह बात न ग्रहण कर लेना कि देखो यह कहा जा रहा कि रागभाव भी रहे, सम्यक्त्व भी रहे, कोई विरोध नहीं, तो हम तो घरमें रहकर खूब डटकर रागभाव करेंगे, क्योंकि बताया ही जा रहा कि राग भी रहे, सम्यक्त्व भी रहे। अरे जिसके सम्यक्त्व रहता है वह कर्मके उदयसे रागभाव हो तो उससे भी विरक्त रहता है। यह बात तो अपने आपमें परख लो कि अपने आपमें जो राग जगता है उस रागसे आपको घृणा है या नहीं। जो कुटुम्ब, परिवार, वैभव घर सम्बंधी राग जगता है चित्तमें, उस रागसे आपको ग्लानि है या नहीं ? उस रागसे हटनेके लिए आपको भीतरमें तड़फन है या नहीं ? यदि उस रागको भला मान रहे हैं तो सम्यक्त्व नहीं है। राग दो क़िस्मके मान लें—एक तो विषयोंका राग और एक उन रागोंका राग। उदय आया, न सह सके, विषयोंमें लग गए, यह हुआ राग। इतना तक तो सम्यग्दृष्टिके सम्भव है, लेकिन उस रागमें भी राग रहे, उस रागसे ग्लानि न आये तो ऐसा राग सम्यग्दृष्टिके नहीं होता। ऐसे रागको मिथ्यात्व कहते हैं जो रागमें राग बनाये। राग तो मात्र राग है, रागभाव सम्यक्त्वका विघातक नहीं, दर्शनमोहका उदय ला सकने वाला नहीं। गुण दो हैं—चारित्रगुण और सम्यक्त्व गुण। सम्यक्त्व गुणकी प्रक्रिया उस ही में होगी, चारित्रगुणकी क्रिया उस ही में होगी, तब शंकाकारका यह कहना कि रागकी ऐसी शक्ति है कि वह दर्शनमोहका उदय ला सकता है, यह कहना युक्त नहीं।

यतश्चास्त्यागमात् सिद्धमेतद्दृङ्मोहकर्मणः।
नियतं स्वोदयाद्बन्धप्रभृति न परोदयात् ॥९२३॥

दर्शनमोहकर्मके बन्धादिकी दर्शनमोहोदयसे उद्भूतिकी आगमसे सिद्धि—आगममें भी यह बताया गया है कि दर्शन मोहकर्मका बंध उत्कर्ष ये सब दर्शनमोहके उदयसे ही चलते हैं। चारित्रमोहके उदयसे न दर्शनमोहका बन्ध है, न उत्कर्ष है, न उदय है। फिर यह कैसे कहा कि रागभाव होनेसे सम्यक्त्वका विघात होगा, दर्शनमोहका उदय हो जायगा। जिस सम्यक्त्व का जो कारण माना गया है वह कार्य उसी कारणसे बन सकेगा। कार्य कारण विधि मिटाई न जा सकेगी। यदि यह कार्य कारण पद्धति मिटा दी तो कोई ठीक व्यवस्था न बन सकेगी। रोटी जिस तरह बनती है उसी तरह बनेगी। कोई कहे कि वर्ष भरमें जब ११ महीने २९ दिन आगसे रोटी पक जाती है तो यह एक दिन पानीसे क्यों न पक जायगी ? ऐसा तो नहीं होता। यह तो व्यर्थकी चर्चा है। जैसे एक कोई ठाकुर बन्दूक लिए बैठा था। एक बनिया भी उसके पास बैठा था। सो वह ठाकुर बन्दूककी नली तो दूसरी तरफ किए था और उसका काठका मूठ बनियाकी ओर था। पर वह बनिया बोला—ठाकुर साहब आप इस बन्दूकको कहीं अलग धर दो, अपने हाथमें न रखो।····क्यों ?····कहीं ऐसा न हो कि इसकी गोली

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

छूटकर हमारे लग जाये।····अरे भाई बन्दूककी नली तो हमारी ही ओर है, तुम्हारी ओर तो नहीं है। गोली नलीमें से ही तो निकला करती है, कहीं मूठसे (कुन्देसे) थोड़े ही निकलती। अगर गोली निकलेगी तो हमारे ही तो लगेगी, तुम्हारे तो न लगेगी। तो वह बनिया बोला—अरे भाई रोज-रोज तो गोली नलीमें से निकलती है, पर मुझे भय है कि आज कहीं कुन्देमें से न निकल पड़े। तो भाई ऐसी भी शंका कोई लोग करते, पर कार्यकारण पद्धति तो जिस तरह है वैसी ही चलेगी। दर्शनमोहके उदयसे दर्शनमोहका उत्कर्ष बनेगा, चारित्रमोहके उदय से दर्शनमोहका उदय नहीं बनता, अतएव यह शंका मत करो कि रागभाव होनेसे दर्शनमोहका उदय आ जायगा याने मिथ्यात्व हो जायगा।

ननु चैवमनित्यत्वं सम्यक्त्वाद्यद्वयस्य यत्।
स्वतः स्वस्योदयाभावे तत्कथं स्यादहेतुतः ॥६२४॥
न प्रतीमो वयं चैतद्दृङ्मोहोपशमः स्वयम्।
हेतुः स्यात् स्वोदयस्योच्चैरुत्कर्षस्याऽथवा मनाक् ॥६२५॥

उपशम सम्यक्त्व व क्षायोपशमिक सम्यक्त्वकी अनित्यता दिखाकर रागमें सम्यक्त्व-विनाशक शक्ति बतानेका शंकाकारका प्रयास—अब शंकाकार दूसरी शंका करता है। इस शंकाको समझनेसे पहिले यह समझ लें कि कर्म ८ प्रकारके होते हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इनमें से मोहनीय कर्मके दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीयके उदयसे मिथ्यात्व होता है और चारित्र-मोहनीयके उदयसे राग होता है तो यहाँ यह सिद्ध किया गया। यह सिद्धान्त बताया गया था कि रागसे दर्शनमोहका उदय नहीं बनता याने मिथ्यात्व नहीं आ जाता। इसपर शंकाकार यह कहता है कि देखो रागके उदयसे दर्शनमोहका उदय नहीं आता, मिथ्यात्व नहीं जगता तो फिर यह बतलाओ कि तीन सम्यक्त्वोंमें जो दो सम्यक्त्व हैं—औपशमिक सम्यक्त्व और क्षायोप-शमिक सम्यक्त्व, ये सम्यक्त्व अनित्य क्यों हैं? मिट क्यों जाते हैं? औपशमिक सम्यक्त्व तो अन्तर्मुहूर्त रहता है, कोई दो-चार सेकेण्ड रहता है, फिर नहीं रहता, और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व अधिकसे अधिक ६६ सागर तक रहता है, इसके आगे नहीं। यदि रागभाव दर्शन-मोहका उदय लानेमें समर्थ न हो तो यह बतलाओ कि आदिके दो सम्यक्त्व अनित्य क्यों हैं? यदि बिना कारण उदय अपने आप हो जाय तब तो बड़ी गड़बड़ी हो जायगी। ऐसा तो होता नहीं, याने उपशम सम्यक्त्व मिटकर, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मिटकर मिथ्यात्व आ जाता है तो ऐसा कैसे हो पायगा? रागादिक भाव ही तो कारण बने तब तो उदय आये। यदि राग को कर्ता न मानें तो फिर अकारण कैसे मिथ्यात्व हो गया? दर्शनमोहका उदय बन गया और यह भी विश्वास नहीं किया जा सकता कि दर्शनमोहका उपशम ही दर्शनमोहका उदय ला

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

देगा। देखिये—उपशमसम्यक्त्व किसे कहते हैं ? जो दर्शनमोहनीय कर्मके उपशमसे जगे उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। उपशम सम्यक्त्व रहता है थोड़े समय, फिर मिट जायगा तो क्या दर्शनमोहके उपशमसे मिट जायगा ? दर्शनका उपशम दर्शनमोहके उदयका कारण नहीं बन सकता। तो इससे भी सिद्ध होता है कि रागभावसे सम्यक्त्व मिट जाता है, मिथ्यात्वका उदय आ जाता है। शंकाकार अपनी शंकाका पोषण कर रहा है। हैं ना दोनों अनित्य ? क्षायिक सम्यक्त्व ही एक ऐसा सम्यक्त्व है कि जो हो वह अनन्तकाल तक रहेगा, मिट नहीं सकता, तब ही क्षायिक सम्यक्त्वको बताया है कि वह चौथे से १४वें गुणस्थान तक है, और सिद्धोंमें भी है। औपशमिक कहा गया है चौथेसे ११वें तक और क्षायोपशमिक कहा गया है चौथेसे ७वें तक, और आगे रहता ही नहीं है, अनित्य है, मिट जाता है। और जब मिट गया और मिथ्यात्वरूपमें स्थिति हो गई तो इससे यह सिद्ध है कि देखो—ऐसे सम्यक्त्वका विघात या मिथ्यात्वका होना रागसे ही बना। यदि रागके उदयसे सम्यक्त्व न मिटे तो कैसे मिट सकेगा औपशमिक ? और क्षायोपशमिकसे सम्यक्त्व जगे तो भी क्षयोपशम तो न रहा। और इसे छोड़ो, सबके नियम तो नहीं उपशम और क्षयोपशम ही मिथ्यात्वके कारण बनेंगे यदि तो सम्यक्त्व फिर होगा कैसे ? और स्वयमेव अगर हो जाय तो बड़ी गड़बड़ी हो जाय, फिर तो ज्ञानीके बल्कि भगवानके भी सम्यक्त्व न रहेगा। इससे मानना चाहिए कि रागभाव सम्यक्त्वको मिटा देता है, मिथ्यात्वको पैदा कर देता है। यह शंकाकारकी शंका है। देखो—शंकाकारकी शंका सुननेमें भली लग रही होगी—बेचारा ठीक कह रहा। जब राग जगें तो सम्यक्त्व मिट जायगा, लेकिन सिद्धांत यह है कि रागभावके कारण सम्यक्त्व नहीं मिटता या मिथ्यात्व उत्पन्न नहीं होता। भले ही यह अनन्तानुबंधी कषायका उदय कहीं सम्यक्त्वका घात कर दे, फिर अनन्तानुबंधी कषाय मिथ्यात्वके उदयका कारण नहीं। तो मिथ्यात्वका हो जाना रागभावके कारण नहीं है, सिद्धान्त यह कहता है। सो अब शंकाकारकी उक्त शंकाका ऐसा ही समाधान करते हैं।

नैवं यतोऽनभिज्ञोसि पुद्गलाचिन्त्यशक्तिषु।
प्रतिकर्म प्रकृत्याद्यैर्नानारूपासु वस्तुतः ॥६२६॥

शंकाकारकी उक्त शंकाके समाधान—शङ्काकारने क्या शङ्का की थी कि किसी सम्यग्दृष्टि जीवके सम्यक्त्व मिटकर जो मिथ्यात्व आ जाता है—औपशमिक सम्यक्त्व और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व जो नष्ट हो जाता है उसका कारण रागभाव है, लेकिन सिद्धान्त यह नहीं बताता। शङ्काकारकी शङ्काके समाधानमें कह रहे हैं कि हे शङ्काकार पुरुष ! तुम्हें अभी पुद्गलकी अचिन्त्यशक्तिमें विश्वास नहीं हुआ, कर्मसिद्धान्तका विशेष परिचय नहीं कर पाया, इसलिए शङ्का कर रहे हो। तुम्हें पता होना चाहिए कि जब कर्मका बन्ध होता है तो चार

Report any errors at vikasnd@gmail.com

प्रकारसे होता है—प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, स्थितिबंध और अनुभागबंध। और उनके उदयमें उनके अनुरूप प्रभाव होनेकी शक्ति है, और जब उपशम होता है तब वह शक्ति व्यक्त न चलेगी, मगर उपशम तो उपशम है, दबना है। उस दबनेकी भी स्थिति है। तो जब दबनेकी स्थिति पूर्ण हो गई तो अपने आप उदय आ गया। यह तो कर्मोंमें अपना स्वयंका प्रभाव है। इसी बातको और स्पष्ट करते हैं।

अस्त्युदयो यथानादेः स्वतश्चोपशमस्तथा।
उदयः प्रशमो भूयः स्यादर्वागपुनर्भवात् ॥६२७॥

कर्मोंकी शक्तिमें उदय व उपशमकी स्वयं योग्यता बताते हुए उक्त शंकाका समाधान— देखो—अनादिकालसे अब तक जीवोंके कर्मका उदय चल रहा है। जब कर्म उदित होता है तो वहाँ कोई क्यों तो नहीं लगाता? क्यों उदित हो गया? कैसे उदित हो गया? चल रहे हैं, समझ रहे हैं सब। तो जैसे अनादिकालसे कर्मोंका उदय चल रहा है उसी प्रकार कर्मोंका उपशम भी स्वयं होता है, और उपशमके बाद उदय भी आ जाता तो औपशमिक सम्यक्त्वके उदय होनेकी बात तो यह है कि वहाँ है उपशम और उपशममें होती है स्थिति, अंतःकरण करके जो उपशमका काल पाया है उसकी म्याद है। देखो—जैसे किसी वकीलके यह इच्छा हुई कि हम दसलक्षणके दिनोंमें कचहरी न जायें तो वह क्या उद्यम करता है? करीब एक-दो माह पहिलेसे ही उस दसलक्षणके दिनोंकी कोई तारीख नहीं लगवाता और कोई तारीख पहिलेसे लग गई हो तो उसे हटानेकी कोशिश करता है। यह तारीख बादमें लगा दो या थोड़े पहिले लगा दो। उसके ऐसे उद्यमसे होता क्या है कि उन दस दिनोंमें कोई तारीख ही नहीं है तो कचहरी जानेका कष्ट क्यों करना पड़ेगा? तो यों समझ लो कि तारीखोंका उन कामोंका उपशम हो गया है दस दिनके लिए। अब कोई यहाँ यह प्रश्न करे कि जब एक बार उपशम हो गया दस दिनोंकी तारीखका तो फिर ये तारीखें आ कैसे गईं? इस तरहकी कोई शंका न करे। जानते हैं कि वह उपशम तो दस दिनोंका था, तारीखें तो आयेंगी ही, काम तो होंगे। ऐसी ही उपशम सम्यक्त्वकी बात है। उपशम कितने समयका था, उसके बाद उदय तो आयगा ही। तो औपशमिक सम्यक्त्वकी यह बात है। साथ ही यह समझ लो कि औपशमिक सम्यक्त्वके बाद सम्यक्त्व मिटे ही मिटे, ऐसा नहीं है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व हो जाय। अब जरा क्षायोपशमिक सम्यक्त्वकी अनित्यताकी जानकारी कीजिए। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय रहता है, उससे उसमें दोष उत्पन्न होते हैं। उसमें यदि प्रमाद किया तो उनमें उसकी भी स्थिति है। जिनका क्षय और क्षयोपशम किया तो उसके बाद उनका उदय आ सकता है। तो यों क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मिट गया, लेकिन यह कहना कि देखो रागभाव जगा, इसलिए सम्यक्त्व मिटा या मिथ्यात्वका उदय आया सो बात नहीं है। राग है चारित्र-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मोहका काम और मिथ्यात्व है दर्शनमोहका काम । तो इस तरह शंकाकार यह सिद्ध करनेमें सफल न हो सका कि इस जीवका जब विषयोंके प्रति उपयोग जाय या राग हो तो इसके ज्ञानचेतना नहीं रहती है ।

अथ गत्यन्तराद्दोषः स्यादसिद्धत्वसंज्ञकः ।
दोषः स्यादनवस्थात्मा दुर्वारोन्योन्यसंश्रयः ॥६२८॥

रागसे दर्शनमोहका उदय माननेपर असिद्धत्वादि अनेक दोषोंका प्रसङ्ग—मिथ्यात्व कैसे होता है, राग कैसे होता है, इसकी चर्चा संक्षेपरूपमें कही गई थी । राग होता है चारित्र-मोहनीयके उदयसे और मिथ्यात्व होता है दर्शनमोहके उदयसे । चारित्रमोहके उदयसे अथवा रागसे दर्शनमोहका उदय आ जाय अथवा मिथ्यात्व आ जाय, यह नहीं हो सकता । इस सम्बंधमें विवेचन किया गया था । अब यहां यह बतलाते हैं कि जैसा सिद्धान्त बताया गया है वैसा कोई न माने, अन्य प्रकारसे माने याने यह बताये कि रागसे दर्शनमोहका उदय होने लगता है या मिथ्यात्व हो जाता है तो ऐसा मानने वालेके अनेक दोष आयेंगे । असिद्धत्व दोष होगा, अनवस्था होगा और इतरेतराश्रय दोष होगा । अनवस्था तो यों है कि एक व्यवस्था ही न रह सकी । किसी भी कारणसे कोई कार्य बन बैठे तो क्या व्यवस्था रही और रागसे हुआ दर्शनमोहनीयका उदय और दर्शनमोहके उदयसे बना राग तो यों चलते जावो, कहीं भी व्यवस्था न बन सकेगी तो इन्हीं सब दोषोंका वर्णन करनेके लिए आगे कुछ पद्य कहेंगे ।

दृङ्मोहस्योदयो रागायत्तोस्ति चेन्मतम् ।
सोऽपि रागोस्ति स्वायत्तः किं स्यादपररागसात् ॥६२९॥

रागसे रागकी उत्पत्ति माननेपर अनवस्था दोषके प्रसङ्गका विवरण—रागसे मिथ्या-त्व माननेपर, रागसे दर्शनमोहनीयका उदय माननेपर कौन दोष आते हैं, इस विषयमें कल संकल्प किया था कि उन दोषोंको कहेंगे, उन्हीं दोषोंके कहनेकी यह भूमिका चल रही है । शंकाकारने यह माना था कि रागके आधीन दर्शनमोहनीयका उदय है । राग होता है तो मिथ्यात्व आ जायगा । दर्शनमोहका उदय बन बैठेगा, ऐसा शंकाकारका मत था । इस विषय में शंकाकारसे यह पूछा जा रहा है कि ऐसा कहने वाले शंकाकार यह बतायें कि जो भी राग है, जिसके आधीन दर्शनमोहके उदयको कहा है, जिस रागसे दर्शनमोहका उदय बतलाया जा रहा है वह राग क्या अपने आधीन है या अन्य रागके आधीन ? ध्यानसे सुनो—क्या विकल्प किया गया है ? शंकाकार यह कहता था कि राग होता है तो दर्शनमोहनीयका उदय आ जायगा अर्थात् मिथ्यात्व आ जायगा तो ऐसा कहने वाला शंकाकार यह बतलाये जरा कि जैसे रागके करनेसे मिथ्यात्व आता है तो रागसे तो मिथ्यात्व आया और वह राग किससे आया सो बताओ ? क्या वह राग किसी दूसरे रागसे आया है ? अगर दूसरे रागसे आया है

Report any errors at vikasnd@gmail.com

 http://www.jainkosh.org

तो वह दूसरा राग कहाँसे आया ? किसी तीसरे रागसे आया ? वह तीसरा राग कहाँसे आया ? वह भी किसी अन्य रागसे आया । तो इस प्रकार अनवस्था दोष हो जायगा । पहिले इस ही रागकी व्यवस्था न बना सके जिस रागसे मिथ्यात्वको माना जा रहा है । तो यदि दूसरे रागसे राग आया तो अनवस्था दोष होगा । उसमें तो किसी रागकी व्यवस्था न बन सकी । यह ही राग नहीं सिद्ध हो सकता, तब फिर दर्शनमोहके उदयकी चर्चा ही क्या करेंगे ?

स्वायत्तश्चेच्च चारित्रस्य मोहस्योदयात्स्वतः ।
यथा रागस्तथा चायं स्वायत्तः स्वोदयात्स्वतः ॥६३०॥

चारित्रमोहके उदयसे स्वतः रागोद्भव माननेपर दर्शनमोहके उदयसे स्वतः मिथ्यात्वोद्भवकी भी सिद्धि—प्रकरणकी बात फिर सुन लीजिए । बात यहाँ सामने दो हैं—मिथ्यात्व और राग । और ऐसा जानते होंगे कि मिथ्यात्व और रागमें कुछ अन्तर है । राग तो एक प्रेमभाव उत्पन्न हो गया उसका नाम है । राग दोष है, प्रेम दोष है, प्रेमको धर्म न समझना । जैं ! विरोध अधर्म है उसी तरह प्रेम भी अधर्म है । यह तो है रागकी व्याख्या । और मिथ्यात्व क्या है ? मोह, अज्ञान, बेसुधी । आत्माके स्वरूपकी सुध भी न हो सकना, यह कहलाता है मिथ्यात्व, यह तो महा अधर्म है । तो मिथ्यात्व तो होता है दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे, लेकिन शंकाकार यहाँ यह कह रहा कि राग होगा तो दर्शनमोहका उदय आ जायगा, तो ऐसा कहने वाले शंकाकारसे यह पूछा था कि वह राग किससे आयगा ? अगर दूसरे रागसे आयगा तो उसका दोष तो बता दिया । अब यदि यह कहो कि वह राग स्वयं आ जायगा तो चारित्र मोहनीयके उदयसे राग अपने आप हो जानेमें राग होनेके लिए और किसीकी आवश्यकता नहीं । चारित्रमोहनीयका उदय हुआ तो स्वयं अपने आप राग बन गया । यदि शंकाकार यह जवाब दे तो शंकाकार उत्तर भी पा ले अपने आप कि जैसे राग स्वयं हो जाता, चारित्रमोहनीयका उदय हुआ कि राग अपने आप हो गया । उस रागको होनेके लिए और रागोंकी अपेक्षा नहीं करनी पड़ती, तो जिस तरह मोहके उदयसे राग स्वयं हो जाता है । इसी प्रकार दर्शनमोह के उदयसे मिथ्यात्व स्वयं हो जाता है । यह शंका न करें कि राग होनेसे मिथ्यात्व आ जाता या दर्शनमोहका उदय आ जाता । शंकाकार जो यह कह रहा था उसके दिलमें यह चोर था कि जो हम यह कहते आ रहे थे कि राग होनेसे ज्ञानचेतना नहीं रहती, परका उपयोग होनेसे ज्ञानचेतना नहीं रहती । परका उपयोग किया, रागभाव हुआ तो ज्ञानचेतना नहीं रहती । इसका उत्तर तो बहुत विस्तारसे दिया था । जब वहाँ पार न पड़ा तो शंकाकार यहाँ दूसरा पैंतड़ा बदलकर बोल रहा है कि इतना तो मान लेना चाहिए कि रागभाव होगा तो दर्शनमोहनीयका उदय आ जायगा, उसका समाधान यहाँ दिया जा रहा । देखो—जैसे चारित्रमोहनीयका उदय आनेपर राग स्वयमेव हो जाता है उसी प्रकार दर्शनमोहनीयका उदय आनेपर

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मिथ्यात्व भी स्वयमेव हो जाता है ।

अथ चेत्तद्द्वयोरेव सिद्धिश्चान्योन्यहेतुतः ।
न्यायादसिद्धदोषः स्याद्दोषादन्योन्यसंश्रयात् ॥९३१॥

राग और दर्शनमोहोदयको दोनोंको परस्पर कारण माननेमें असिद्ध और अन्योन्य-संश्रय दोषका प्रसङ्ग—शंकाकारने यह कहा था कि जो दो बातें सामने रखी हैं—राग होना और दर्शनमोहनीयकर्मका उदय होना और इसमें जैसे कारण कार्य बताया था कि राग तो कारण है और दर्शनमोहनीयका उदय हो जाना कार्य है । इस सम्बंधमें यदि शंकाकार यह कहने लगे कि दोनोंकी सिद्धि एक दूसरेसे मान ली जायगी, याने दर्शनमोहनीयके उदयसे राग होता है और राग होनेसे दर्शनमोहनीयका उदय आ जाता है तो लो किसी एककी भी सिद्धि न हो सकी । यों असिद्ध दोष आया तथा उनमें इतरेतराश्रय दोष हो गया । एककी सिद्धि दूसरेके आधीन है और उसकी सिद्धि दूसरेके आधीन है तो कोई सिद्धि हो ही न सकेगी । जैसे कोई ताला जो बिना चाभीके लग जाता है उसकी चाभी तो धर दें संदूकमें और बाहरसे ताला लगा दिया जाय तो वहाँ विवशता आ जाती है, इतरेतराश्रय दोष आ जाता है । जब ताला खुले तब चाभी निकले, जब चाभी निकले तब ताला खुले । एक घटना बतायी है, कहीं ऐसा तर्क न कर देना कि हम बाजारसे दूसरी चाभी ले आवेंगे । लो वहाँ इतरेतराश्रय दोष कैसे होगा ? तो जितनी बात समझायी जा रही है वह समझना है । ऐसे तर्कोंमें तो किसी बातपर भी न टिक सकेंगे । एक ऐसी घटना कहते कि एक वकील साहब जा रहे थे तो रास्ते में एक तेली अपने बैलसे कोल्हूमें तेल पेल रहा था । तेलीने उस बैलके गलेमें एक घंटी बाँध रखी थी । जब वह चलता था तो बैलकी गर्दन हिलनेसे वह घंटी बजती रहती थी । वह तेली स्वयं दूर जाकर अपना और कोई काम करता रहता था । जब तक घंटीकी आवाज आती रहती थी तब तक समझता था कि बैल चल रहा है और जब घंटी बजना बन्द हो जाता तो समझ लेता था कि बल खड़ा हो गया और आकर बैलको खेद जाता था, बैल फिर चलने लगता था । तो वकील साहब जब उधरसे निकले तो पूछा कि इस बैलके गलेमें घंटी क्यों बाँध रखी है ? तो तेलीने बताया कि घंटी बजनेसे हम जानते रहते हैं कि बैल कोल्हू पेल रहा है, इसलिए इस बैलके गलेमें घंटी बाँध रखी है । तो वकील बोला—अगर यह बैल खड़ा खड़ा ही अपनी गर्दन हिलाता रहे तब तो तुम धोखेमें पड़ जावोगे । तो तेली बोला—अभी हमारा बैल वकील नहीं बना । जब वकील बन जायगा तो वैसा भी कोई उपाय कर लेंगे । तो यह इतरेतराश्रय दोषकी घटना बतायी है । जैसे बताया कि ताली निकले तब ताला खुले और ताला खुले तब ताली निकले, ऐसे ही कहा कि जब दर्शनमोहनीयका उदय आये तो राग उत्पन्न हो और जब राग उत्पन्न हो तो दर्शनमोहका उदय आये । सम कार्यकारणभाव मानने

Report any errors at vikasnd@gmail.com

में भी शंकाकारका पूरा नहीं पड़ सकता ।

नागमः कश्चिदस्तीदृगघेतुर्दृङ्मोहकर्मणः ।
रागस्तस्याथ रागस्य तस्य हेतुर्दृगावृत्तिः ॥६३२॥

आगमसे भी रागमें दर्शनमोहोदयकारणत्वकी असिद्धि—युक्तियोंसे यह बात सिद्ध न हो सकी कि राग होनेसे दर्शनमोहनीयका उदय आ जाता है । अब आगमका सहारा लेकर बोलें तो आगमसे भी सिद्धि नहीं हो सकती । आगममें यह नहीं बतलाया कि दर्शनमोहनीय कर्मका कारण राग है, और न यह बतलाया है कि रागका कारण दर्शनमोहनीयकर्म है । दोनोंके भिन्न-भिन्न कारण हैं, और राग तो है यहाँ भावकर्म और दर्शनमोहनीयकर्म है द्रव्यकर्म और तिसपर भी रागका सम्बन्ध है चारित्रगुणके विकारसे और दर्शनमोहका सम्बंध है सम्यक्त्व गुणके विकारसे । तो यहाँ ऐसा कार्यकारण भाव नहीं है कि रागभाव दर्शनमोहका कारण बने और दर्शनमोह रागभावका कारण बने । तो आगमसे भी यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि रागसे दर्शनमोहका उदय आता है ।

सम्यग्दृष्टिके निरन्तर ज्ञानचेतना, संवर व निर्जरण तथा रागसे सम्यक्त्व ज्ञानचेतना, संवर व निर्जरणके विनाशकी असिद्धि—इस प्रकरणमें फिरसे बात समझ लो—सिद्धान्तकी बात यह है कि जिस जीवको सम्यग्दर्शन हो जाता है उसके निरन्तर ज्ञानचेतना रहती है । जैसे यहाँ लोगोंको अपने नामकी चेतना निरन्तर रहती है । मेरा अमुक नाम है । सो रहे हों तब भी नामकी प्रतीति है । नहीं तो कोई धीरेसे पुकारता है तो झट क्यों जग जाते हैं ? दूसरेका नाम कोई जोरसे ले तब भी बड़ी मुश्किलसे जगते हैं । कितने ही दूकान आदिकके काम-काजमें लग रहे हों तब भी नामकी प्रतीति रहती है । मैं अमुक नामका हूं, नामकी तरफ ख्याल भी न रख रहे हों तब भी अपने नामकी प्रतीति और संस्कार रहता है । तो जैसे लोगोंको अपने नामको प्रतीति निरन्तर रहती है, ऐसे ही सम्यग्दृष्टि जीव को अपने ज्ञानस्वरूपकी प्रतीति निरन्तर रहती है । मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानको ही करता हूं, ज्ञानको ही भोगता हूं । ज्ञानके सिवाय अन्य कोई मेरा स्वरूप नहीं, ऐसी प्रतीति सम्यग्दृष्टिको निरन्तर रहती है । इसे कहते हैं ज्ञानचेतना । जैसे लोगोंको अपने नामकी प्रतीति निरन्तर रहती है और जब नामका उपयोग कर रहे हों, ख्याल कर रहे हों, नाम लिख रहे हों तो उस समय नामका उपयोग कहलाया । वहाँ प्रतीति और उपयोग दोनों हो गए, और जब किसी काममें व्यस्त हों, नामकी तरफका ख्याल न रख रहे हों तो उस समय आपको नामकी प्रतीति है । उपयोग तो नहीं है, ऐसे ही सम्यग्दृष्टि जीव जब स्वानुभूति कर रहा है उस समय ज्ञानचेतनाका उपयोग भी है और लब्धि भी है । और जब अपने ज्ञानस्वरूपका यह उपयोग

http://sahjanandvarnishastra.org/

नहीं कर रहा, ज्ञानस्वरूपको ज्ञानमें नहीं ले रहा, घर परिवार कुटुम्ब शिष्य या अन्य लोगों की बात सुन रहा, उनमें उपयोग लगा रहा तो उस समय ज्ञानचेतना उसके उपयोगरूप नहीं है, किन्तु लब्धिरूप है, और लब्धिरूप ज्ञानचेतना हो तो सम्वर निर्जरा बराबर चलती रहती है। इसके विरुद्ध शंकाकारने यह आपत्ति उठायी थी कि वाह जब यह जीव दूसरे मित्र से बात कर रहा, घरसे बात कर रहा, दूसरेमें उपयोग लगा रहा तो उसके ज्ञानचेतना कैसे रह जायगी ? उसका उत्तर विस्तारसे दिया गया है कि देखो—लब्धिरूप ज्ञानचेतना तो निरन्तर रहती है और इसी कारण संस्कार उसका उत्तम है तो सम्वर और निर्जरा भी सदा रहती है, सम्यक्त्व भी सदा रहता है। जब यह बात शंकाकार न मिटा सका तो वह दूसरी बात सामने ला रहा है कि रागसे, परके उपयोगसे सम्यक्त्व नहीं मिटता, सम्वर निर्जरा नहीं मिटती, तो सुनो—इतना तो हो ही जायगा कि दर्शनमोहका उदय आ जायगा। उसके समाधानमें कह रहे हैं कि भाई दर्शनमोहका कारण है अन्य और रागका कारण है अन्य, तो कैसे परस्पर इनमें कार्यकारणभाव हो जायगा ? इस कारण यह सिद्धान्त घटित होता कि दर्शनमोहनीयका उदय अथवा अनुदय अपनेसे होता है। चारित्रमोहनीयका उदय अथवा अनुदय अपने आप होता है। इनमें ऐसा नहीं हो सकता कि दर्शनमोहके लिए चारित्रमोह कारण बन जाय या चारित्रमोहके लिए दर्शनमोह कारण बन जाय।

तस्मात्सिद्धोऽस्ति सिद्धान्तो दृङ्मोहस्येतरस्य वा।
उदयोऽनुदयो वाऽथ स्यादनन्यगतिः स्वतः ॥९३३॥
तस्मात्सम्यक्त्वमेकं स्यादर्थात्तल्लक्षणादपि।
तद्यथाऽऽवश्यकी तत्र विद्यते ज्ञानचेतना ॥९३४॥

स्वोदयसे राग व दर्शनमोहकी उद्भूति तथा सम्यक्त्व व सम्यक्त्वलक्षणकी एकरूपता तथा सम्यक्त्वके साथ ज्ञानचेतनाकी विद्यमानता—बहुत विस्तारपूर्वक ज्ञानचेतना व सम्यक्त्व के सम्बन्धमें वर्णन करनेके बाद यहाँ निष्कर्षरूपमें कहा जा रहा है कि देखिये—यही बात सिद्ध होती है कि सम्यक्त्व एक है। उसका लक्षण भी एक है, इसी कारण ना सम्यक्त्व एक है, और इसी कारण ज्ञानचेतना भी उसके निरन्तर बनी रहती है। तीन बातोंपर प्रकाश डाला है—सम्यक्त्वका लक्षण एक है, सम्यक्त्व भी एक है और सम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतना निरन्तर रहती है। शंकाकारने यह आपत्ति दी थी कि सराग सम्यक्त्वमें तो रागचेतना ही होना चाहिए, वीतराग सम्यक्त्वमें ज्ञानचेतना होनी चाहिए। लो आप दो शब्द और नये सुन रहे हैं—सराग सम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व। इसका अर्थ क्या ? इसका अर्थ यह है कि जो रागी जीव है उसके सम्यक्त्व हो तो सराग जीवके सम्यक्त्वका नाम है सराग सम्यक्त्व और कोई वीतराग जीव हो, मुनि हो, उसके सम्यक्त्वका नाम है वीतराग सम्यक्त्व, किन्तु कुछ

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

उलझनमें डालनेके लिए शंकाकार ऐसा भी मान सकता है कि जिस सम्यक्त्वमें राग घुसा हो वह है सराग सम्यक्त्व और जिस सम्यक्त्वमें राग न पड़ा हो वह है वीतराग सम्यक्त्व। लेकिन यह परिभाषा सही नहीं है। सम्यक्त्वमें सम्यक्त्व ही है, उसमें राग नहीं है। तो शंकाकारका यह सिद्धान्त है कि सराग सम्यक्त्वमें ज्ञानचेतना नहीं होती, वीतराग सम्यक्त्वमें ज्ञानचेतना होती है। लेकिन यह बात यों युक्त नहीं होती कि रागके सम्बंधसे सम्यक्त्वका नाम सराग सम्यक्त्व नहीं, किन्तु रागसहित जीवके सम्यक्त्व हो तो उसे सराग सम्यक्त्व कहते हैं। सम्यक्त्वके वास्तवमें से दो भेद नहीं हैं—सराग सम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व। ये दो भेद हो ही नहीं सकते। सम्यक्त्व तो सम्यक्त्व है। सम्यग्दर्शनका क्या लक्षण है? इस सहज ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वमें यह मैं हूं, यह ही उपादेय है, ऐसी रुचि होनेका नाम सम्यग्दर्शन है। देखो—श्रद्धारहित कोई नहीं है। किसीके यह श्रद्धा लग रही है कि स्त्री-पुत्रादिक ही उपादेय हैं, ये ही मेरे मंगल हैं, ये ही मेरे प्राण हैं, इनके लिए ही मेरी जिन्दगी है, कोई भी श्रद्धा कर रहा श्रद्धावान तो वह भी है। उसकी दृष्टिमें भगवानकी जगह स्त्री-पुत्रादिक हैं, और भगवान कुछ भी नहीं हैं। और जब कभी भगवानके दर्शन भी करता तो वहाँ भी यह समझता है कि यह भगवान तो भोले-भाले हैं। हम इनका नाम लेकर अपना काम निकाल लेते हैं, स्त्री-पुत्रादिक सुखी हो जाते हैं, मुकदमा जीत जाते हैं, चतुर तो हम हैं, ऐसी श्रद्धा मोही जीवोंकी होती है। वे अपने आपकी कुटिलता चतुराईकी श्रद्धा रखते हैं। किन्तु सम्यग्दृष्टि पुरुषकी यह श्रद्धा रहती है कि ज्ञानमात्र स्वरूपके अतिरिक्त मेरा कुछ भी मंगल नहीं है और इस ज्ञानमात्र स्वरूपकी दृष्टिसे ही मेरा समस्त कल्याण होता है, मंगल मिलता है। यही उपादेय है, यही मेरा स्वरूप है।

सम्यक्त्वमें सहज आत्मवृत्ति व एकरूपता—अथवा उपादेयकी बात क्या? जो बात असलमें जैसी सहज है उसका जान लेना भला काम है, उसकी श्रद्धा रखना भला है, झूठको सच मानकर रहना, यह भलेकी बात नहीं है। असल बात यह है तो ज्ञानमात्र तत्त्वके अतिरिक्त सारी बातें झूठ हैं, धन वैभव झूठ है। पुद्गलका संयोग है। मुझसे भिन्न चीजें हैं। उनसे मेरा क्या लगाव? यह शरीर भी मायारूप है, इससे भी मेरा क्या सम्बंध? रागद्वेषादिक भाव झूठे हैं। ये किसी एकके आश्रित ही नहीं हैं। रागको किसकी चीज बतायें? आत्मामें रागका स्वभाव नहीं। कर्मोंमें राग ही नहीं करता, मायारूप है। सत्य ध्रुव तो है यह ज्ञानमात्रस्वरूप। उसकी ओर श्रद्धा होना सम्यग्दर्शन है। यह मैं हूं, ऐसी प्रतीतिका नाम सम्यक्त्व है। सम्यक्त्वमें कहीं भेद नहीं पड़े कि गृहस्थका सम्यग्दर्शन और तरहका हो और मुनियोंका सम्यग्दर्शन और तरहका हो। या यहाँ पंडितोंका सम्यग्दर्शन और तरहका हो या थोड़े पढ़े-लिखे लोगोंका सम्यग्दर्शन और तरहका हो। सम्यक्त्वमें भेद नहीं, सम्यक्त्वके लक्षण

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

में भेद नहीं, और जहाँ सम्यग्दर्शन है वहां ज्ञानचेतना निरन्तर है। सम्यग्दर्शनका लक्षण यदि कहा जा सकता है बास्तवमें तो स्वानुभूतिको कह सकते हैं। स्वानुभूति जिसको जग गई हो उसके सम्यक्त्व है। स्वानुभूति नहीं भी हो, मगर स्वानुभूतिका सम्बंध जिसे मिल गया हो सम्यक्त्व वहाँ है। सम्यग्दर्शनकी बात समझानेमें लिए और जो-जो कुछ भी कहा जाय उससे यथार्थ बात तो नहीं बता सकते, लेकिन समझाना तो पड़ता ही है। सम्यग्दर्शन एक रूप है, सम्यक्त्वका लक्षण एक रूप है, और वहाँ ज्ञानचेतना अवश्य रहा करती है। तो चाहे सराग अवस्था हो अथवा वीतराग अवस्था हो, ज्ञानचेतना सम्यक्त्वमें साथ अवश्य ही रहेगी। शङ्काकार अब यह शङ्का मिटा ले कि रागभाव होनेसे सम्यक्त्व मिट जाता है। सम्यक्त्व मिटनेका कारण तो दर्शनमोहका उदय है।

मिश्रौपशमिकं नाम क्षायिकं चेति तत्त्रिधा।
स्थितिबन्धकृतो भेदो न भेदो रसबन्धसात् ॥९३५॥

मिश्र, औपशमिक व क्षायिक तीनों सम्यक्त्वोंमें रसानुभवभेदका अभाव—सम्यक्त्वके प्रकरणमें यहाँ सम्यक्त्वके भेद बताये जा रहे हैं। सम्यक्त्वके भेद तीन हैं—औपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व। इन तीनों ही सम्यक्त्वोंका लक्षण एक ही मिलेगा। प्रतीति एक ही प्रकारकी है। उनमें यह भेद नहीं है कि औपशमिक सम्यक्त्वमें तो और श्रद्धा हो, अन्यमें और तरहकी श्रद्धा हो। उनके कारणभेदसे भेद है और उनमें स्थितिके भेदसे भी भेद है। पर स्वाद किसका आता है? सम्यक्त्वके स्वादमें भेद नहीं है। सभी सम्यक्त्वोंमें सहज ज्ञानज्योतिस्वरूपका अनुभव हुआ करता है। इन तीन सम्यक्त्वोंका लक्षण क्या है सो सुनो—कर्म ८ प्रकारके बताये गए हैं—उनमें जो मोहनीय नामका कर्म है उसके दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीयकर्मकी तीन प्रकृतियां हैं—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति। मिथ्यात्वका उदय होनेसे जीवमें मिथ्यात्व प्रकट होता है। सम्यग्मिथ्यात्वका उदय होनेसे जीवमें सम्यग्मिथ्यात्व बनता है, जिसे तीसरा गुणस्थान कहते हैं। सम्यक्त्वप्रकृतिके उदय होनेसे सम्यक्त्वमें दोष लगा करते हैं। सूक्ष्म दोष चल, मलिन, अगाढ़ तो ये तीन प्रकृतियाँ हैं दर्शनमोहकी। चारित्रमोहनीयकी प्रकृतियाँ हैं २५ (१६ कषायें और ९ कषायें) अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ अनन्तानुबंधी तो सम्यक्त्वका घात करने वाली प्रकृति है और चारित्रका भी घात करने वाली है। अनंतानुबंधीमें दो स्वभाव हैं—सम्यक्त्व मिटा दे और चारित्र मिटा दे। अप्रत्याख्यानावरण प्रकृति श्रावकका व्रत नहीं होने देती। उसके उदयमें ५वाँ गुणस्थान प्रकट नहीं होता। प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ यह प्रकृति मुनिव्रतका घात करती है। संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ, इस प्रकृतिसे यथाख्यात चारित्र प्रकट नहीं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

होता। जब १०वें गुणस्थानके अन्तमें संज्वलन लोभ न रहा तो ११वें १२वें गुणस्थानमें यथाख्यात चारित्र होता है और हास्यादिक ९ प्रकृतियां और हैं। तो इन २५ प्रकृतियोंमें अनन्तानुबंधीके दो कार्य हैं—(१) सम्यक्त्वका घात करना और (२) चारित्रका घात करना। तो सम्यक्त्वका घात करने वाली प्रकृतियाँ ७ हो गयीं। ३ दर्शनमोहनीयकी और ४ मोहनीय की। इन ७ प्रकृतियोंका उपशम हो जाय तो औपशमिक सम्यक्त्व होता है। इन ७ प्रकृतियों का क्षयोपशम हो याने किसीका क्षय रहे (उदयाभावी क्षय) किसीका उपशम रहे, किसीका उदय रहे, इसे कहते हैं क्षयोपशम। तो ७ प्रकृतियोंके क्षयोपशमसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। इन तीनों प्रकारके सम्यक्त्वोंमें स्थितिकृत भेद है, उसमें रसास्वादका भेद नहीं है। तीनों सम्यक्त्वोंका विषय है शुद्ध सहज आत्मस्वभावकी प्रतीति, अनुभूति।

तद्यथाऽथ चतुर्भेदो बन्धोऽनादिप्रभेदतः।
प्रकृतिश्च प्रदेशाख्यो बन्धौ स्थित्यनुभागकौ ॥६३६॥

जीवके सुख, दुःख, राग, द्वेष आदिमें कर्मकी निमित्तता—हम आप सब जीवोंको कष्ट की कोई वास्तवमें बात ही नहीं है। जितने भी कष्ट मान रहे वे सब बना-बनाकर मान रहे हैं। न बनायें, ऐसे कष्ट न करें रागद्वेष मोह, न करें कोई कल्पनायें तो कोई जीव क्या जबरदस्ती करता है कि तुम क्यों आरामसे बैठे हो? मेरे लिए तुम क्यों नही कष्ट उठाते? किसी की जबरदस्ती है क्या? लेकिन यह जीव स्वयं भ्रममें है, इसलिए कल्पनायें करता है और दुःखी होता है। यहाँ यह बात एक समझना है कि यह मैं सहज स्वभावसे ही किसी दूसरेका सम्बंध बिना कष्ट उठाता होऊँ तो फिर यह कष्ट कभी मिट ही न सकेगा। वहाँ यह भाव लाना चाहिए कि मेरे इन सब मलिन परिणामोंके लिए सुख दुःख आदिक विभावोंके लिए निमित्त कर्मका उदय है। लोगोंकी दृष्टि कर्मपर थोड़े ही है कि मुझे कर्म दुःख देते हैं। यद्यपि कर्म भी साक्षात् दुःख नहीं देते, वे निमित्तमात्र हैं। इतनी भी सुध जीव नहीं करते, वे तो दिखने वाले मनुष्य और अन्य प्राणी इनको ही नजरमें लेकर अपने सुख दुःखका फैसला बना डालते हैं। मुझे सुख स्त्री-पुत्रादिकने दिया, मुझे कष्ट अमुकने दिया। इस तरह अन्य जीवोंपर ही यह निगाह डालता रहता है और दुःखी होता रहता है। वास्तवमें जीवके सुख, दुःख, जन्म, मरण आदिकका निमित्त है कर्म। वह कर्म क्या चीज है? उसके सम्बंधमें ही कुछ विवरण चलेगा।

कर्मपरिचयकी आवश्यकताका कारण—भैया! यह भी पहिचानना है अपने विषयमें कि मेरे साथ कर्म लगे हैं। उन कर्मोंकी रचना मैं बनाता हूं और जो कर्म बँध जाते हैं वे आसानीसे टलते नहीं हैं। प्रायः उनका फल भोगना पड़ता है। आज पुण्यके उदयमें कुछ अच्छी सामग्री मिली हैं तो कुछ उद्दण्डता मचा लेना, स्वच्छन्द बन जाना, इसका कितना

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कटुक फल होता है, इसका अनुभव तभी होता है जब कि उस बँधे हुए कर्मका उदय आता है। तो उन कर्मोंका यह प्रकरण है। बीचमें यह भी समझ लेना कि इन कर्मोंका प्रकरण कैसे आ गया? प्रकरण तो यह था कि जीवमें सम्यग्दर्शन व ज्ञानचेतना होती है और वहाँ सम्वर निर्जरा निरन्तर चलती है। शंकाकारने यही तो छेड़ा था कि जब जीवका राग उदय आये, परमें उपयोग जाय तो सम्यक्त्व विघट जायगा, ज्ञानचेतना मिट जायगी। जिसके सिल-सिलेमें जब यह समाधान दे दिया गया कि रागभाव होनेसे सम्यक्त्व नहीं मिटता, ज्ञानचेतना नहीं समाप्त होती, किन्तु दर्शनमोहका उदय आये तो सम्यक्त्व समाप्त हो जायगा। तो शंका-कारने यह कहा था कि रागसे दर्शनमोहका उदय आ जायगा। उसका भी समाधान दिया कि रागसे दर्शनमोहका उदय नहीं आता, किन्तु जैसे राग चारित्रमोहके उदयसे स्वयं आता, ऐसे ही दर्शनमोह दर्शनमोहके उदयसे स्वयं आता और दर्शनमोह अपनी स्थिति बनाये है। उपशम हो गया, क्षयोपशम हो गया। सत्तामें पड़ा है, उसका उदय आ जाता है। तो ये सब बातें समझनेके बाद निष्कर्ष यह बताया था कि सम्यक्त्व रागसे नहीं नष्ट होता।

सम्यग्दृष्टि जनोंके स्वानुभूत्यात्मकरसस्वादकी अभिन्नता—सम्यक्त्वके जो ३ भेद हैं—औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक ये भेद स्थितिके भेदसे हैं अथवा कर्मोंकी दशाके भेद से हैं, किन्तु सम्यक्त्वमें स्वयंमें कोई भेद नहीं पड़ा है। मिश्रीका स्वाद जो कोई खायगा उसको वैसा ही आयगा जैसा सबको आता है। कभी-कभी आहार करते समय जब कोई माँ यह कहती है कि यह चीज अमुक चीजके साथ खावो महाराज, तो हमें थोड़ा मनमें यह हँसी आ जाती कि देखो—इनके मनमें है कि जैसा स्वाद हम लेती हैं वैसा ही स्वाद इनको आ जायगा। तब ही तो यह ऐसा कहती हैं। तो जो मिश्री खायगा उसको स्वाद भी वैसा ही आयगा। किसीको कम मिश्री मिली है तो वह कम देर तक स्वाद लेगा, जिसे अधिक मिश्री मिली है वह अधिक देर तक स्वाद लेता रहेगा, मगर मिश्रीके स्वादमें तो अन्तर न आ जायगा। कहीं ऐसा तो न हो जायगा कि थोड़ी मिश्री खाने वालेको करेला जैसा स्वाद आये और अधिक खाने वालेको और तरहका स्वाद आये? सबका स्वाद एक किस्मका आयगा। ऐसे ही सम्यक्त्वका स्वाद स्वानुभूतिस्वरूप है। स्वाद सबमें एक समान है। चाहे औपश-मिक सम्यग्दृष्टि हो, चाहे क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो अथवा क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि हो, सभीको स्वानुभूत्यात्मक आनन्द आता है। जब अपने आपको मैं ज्ञानमात्र हूं, इस प्रकारसे अनुभवमें लेते हैं उस समय वही अमीर है। उसके समान लोकमें कोई पुरुष नहीं। अपने आत्मापर श्रद्धा करो, मोक्षमार्गपर श्रद्धा करो, जीवन सफल हो जायगा।

लोकसम्पन्न धनी मोहियोंके दुःखी होनेकी यथार्थता—भैया! दुनियामें दिखने वाले लोगोंकी सुखिताकी श्रद्धा मत रखो कि इसको सुख है, यह बड़ा है। उनका दुःख आप इस

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तरह देखें—यह बड़े दुःखमें है, बड़े कीचड़में है, मिलना इसे कुछ नहीं है, मगर धनके विकल्प के चक्करमें आकर रात-दिन अपनी मौज खराब कर रहे, उनको दयापात्रकी दृष्टिसे देखें—इन बेचारोंको आत्माकी सुध नहीं है, आत्मप्रतीति नहीं है। बाहर-बाहर ही भटकते हैं, मिलता कुछ नहीं है, व्यर्थका परिश्रम कर रहे हैं। सत्य आराम इन्हें रंच भी नहीं मिलता। उन्हें तो दुःखी देखो, उनको महत्त्व मत दो, महत्त्व दो अपने आपकी निर्मलताको। सम्यक्त्व ही एक श्रेय है, जिनके सम्यक्त्व नहीं है उनका जीवन पशुओंसे भी गया बीता है। भला पशुओंको कहाँ परिग्रहकी चिंता है ? वे तो दूसरे दिनकी भी घास जमा करके नहीं रखते और यहाँ करोड़ों रुपये भी हों तो भी क्या चैन है ? अरबकी तृष्णा लगा लेते हैं। पशुओंको तो डर कब होता है ? जब कोई लाठी लेकर सामने आ जाय। लेकिन मनुष्योंको डर घरमें बैठे हैं, ठंडे घरमें है, उनके अनेक नौकर-चाकर हैं, लेकिन भीतर देखो तो निरन्तर डर बनाये रहते हैं। सरकारका डर, प्रजाका डर, उद्दण्ड लोगोंका डर, बन्धुवोंका डर और नौकरोंका भी डर है। निरन्तर शल्य बनाये रहते हैं, क्योंकि अधिकसे अधिक धन जोड़नेकी जहाँ तृष्णा है वहाँ अन्याय करना पड़ेगा। जो यहाँ अन्याय करता है वहाँ यह बलहीन हो गया। आत्मामें बल न रहा, अनेक शल्य हुए। अन्यायको छिपानेकी भी शल्य है, अनेक शल्योंमें दुःखी रहते हैं। इतना तो निर्णय बना लें कि जितने भी लोकमें धनी लोग हैं वे दुःखी हैं। गरीब हैं, अज्ञानी हैं, मूढ़ हैं। इनके जन्ममरणकी परम्परा बहुत अधिक है।

प्रायः करके यह बात यों कह रहे कि आजके समय तो प्रायः सभी धनिक मूढ़ हैं, मोही हैं। यद्यपि यह नियम नहीं है, सम्यग्दृष्टि जितना बाह्य धनी भी कोई हो ही न सकेगा। चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र, तीर्थंकर जैसे पदोंको सम्यग्दृष्टि पाता है। भले ही किसीके नारायण आदिकके या चक्रवर्तीके सम्यक्त्व न रहे, गलत रास्तेपर जाय, लेकिन जो इतना अलग माना जाने वाला वैभव मिला है तो वह सम्यक्त्वके साथ जो रागभाव, दयाभाव, दान, तपश्चरण, संयम हुआ, उसका फल मिला है। तो ज्ञानीकी दृष्टिमें धन तृण समान है। खूब धन रहा तो इससे आत्माको क्या, खूब धन न मिला तो इससे आत्माको क्या ? कल्पना करते हैं, लोगोंको निरखते हैं। ये लोग मुझे कुछ अच्छा कह दें, ऐसी चाह जिन्होंने बनायी है वे बड़े दयनीय पुरुष हैं, गरीब हैं। ऊपरसे भेष चाहे कुछ बन जाय, लेकिन जिसके चित्तमें लोगोंसे कुछ नाम यशकी चाह हो उसके चित्तमें प्रभु नहीं बसा। कौन बसा ? ये नाक, थूक बहाने वाले लोग बसे हैं। उनके हृदयमें प्रभु नहीं रहा जो लोगोंसे अपने लिए किसी प्रकारके यशकी चाह करता है। तो उन धनिकोंको, उन लोगोंको देख करके तृष्णा मत बढ़ाओ, उन्हें दुःखी मानो और अपने सम्यक्त्व भावके कारण अपने आपको समृद्ध समझें। अब मेरेको क्या कष्ट रहा ? मेरा नाम जब मेरी दृष्टिमें आये तो मेरेको कष्ट क्या ? सम्यक्त्वकी महिमा अद्भुत

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है। सम्यक्त्वका अनुभव एक समान है। उसमें रस स्वादका भेद नहीं है, केवल स्थितिका भेद है। इस प्रकरणको सुनकर स्थितिके बारेमें कुछ समझनेकी जिज्ञासा होती है, उसीको स्पष्ट करनेके लिए यहाँ कुछ कर्मोंका विवरण चल रहा है।

कर्मका स्वरूप—कर्म जो किये जायें उन्हें कर्म कहते हैं। आत्मा जिसे करता है उसका नाम कर्म है। किसे करते हैं? खोटे भावोंको। अशुद्ध भावोंका, विभावोंका कारण होता है अध्यवसानके साथ और होना होता है सहज भावके साथ। जैसे कोई कहता है किसी कामको करके भी कि भैया! मैंने कुछ नहीं किया, यह तो हो गया। तो करनेमें और होनेमें कुछ फर्क समझो। क्यों मना कर रहे हो, क्यों कह रहे हो, ऐसा कि मैंने नहीं किया? कुछ खराब बात होगी करना। ऐसा कहना कि मैंने किया, तो उसमें कुछ खराबी आती होगी। जैसे कोई बड़ा दान कर दे, बड़ी संस्थाकी मदद कर दे, बच्चोंका उपकार कर दे और उसकी कोई प्रशंसा करे, तो वह कहता है कि भाई मैंने कुछ नहीं किया। मालूम होता है कि मेरी समझमें और सारी दुनियाकी समझमें यह बात बैठी है कि किसी कामको करना बुरा है, मायने किसी कामको करनेकी बुद्धि बनाना बुरा है। मैंने किया, यह अहंकार बुरा है। तो कहते हैं कि मैंने नहीं किया।....फिर?....यह तो हो गया। होना अच्छा है। करना बुरा रहा, होना अच्छा रहा। तो इससे यह निष्कर्ष निकला कि अध्यवसान भावपूर्वक जान-बूझकर, संकल्प बना-बनाकर रागद्वेषसे प्रेरित होकर जो बातें बनती हैं उन्हें कहते हैं करना और रागद्वेषके बिना सहजभावसे ज्ञानप्रकाशमें रह-रहकर जो बात होती है उसे कहते हैं होना। तो कर्म नाम किसका है? आत्माके द्वारा जो किया जाय उसका नाम कर्म है। आत्माके द्वारा किया जाता है रागद्वेषादिक भावोंको। तो असलमें कर्म नाम रागद्वेषादिक भावोंका है, किन्तु रागद्वेषादिक भाव होनेपर जो कार्माणवर्गणाओंमें कर्मरूप परिणमन होते हैं, उन पुद्गल द्रव्योंको भी कर्म कहते हैं। यहाँ पुद्गल द्रव्योंकी बात चल रही है। कर्मका जो बंध होता है, जो कि अनादि परम्परासे चला आया है, वह बंध ४ प्रकारका है—प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, स्थितिबंध और अनुभागबंध।

प्रकृति, प्रदेश, स्थिति व अनुभागका अर्थ—प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग—इन शब्दोंके अर्थ समझिये—प्रकृति मायने स्वभाव। प्रदेश मायने उसकी चीज, उसकी काय, उसकी स्थिति मायने उसकी म्याद और अनुभाग मायने फल देनेकी शक्ति। जैसे भोजन किया तो उसमें प्रकृति आ गई कि इसका यह हिस्सा खून बन जायगा, यह पानी बन जायगा, यह हिस्सा मल-मूत्र बन जायगा। उसमें प्रकृति पड़ गई, स्थिति भी आ गई। जो खून रूप परिणमा वह ५-७ वर्ष तक रहेगा, जो पसीना रूप बन रहा वह हिस्सा घंटा दो घंटा रहता, जो मलरूप बन रहा वह हिस्सा मानो २४ घंटा रहता है, और प्रदेशबन्ध है ही, चीज है ही।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

और अनुभागबंध, यह हिस्सा इस प्रकारका फल देनेमें समर्थ है, खूनकी इतनी शक्ति है अथवा उनमें अनुभाग पड़ा है। भोजन अधिक कर लिया तो बहुत नींद लायगा, सरस भोजन कर लिया तो आलस्य लायगा, उनमें फल भी पड़े हुए हैं। तो इसी तरह जो कर्म बँधते हैं उनमें बांधनेके साथ ही यह विभाग हो जाता है कि इन कर्मोंकी यह प्रकृति रहेगी, यह ज्ञानको घातेगा, यह अमुकका काम कहलायगा। प्रदेश भी बँधे, स्थिति भी पड़ जाये, पर उनमें फल देनेकी शक्ति न हो तो क्या प्रभाव, किन्तु ऐसा नहीं, जहाँ स्थिति है वहाँ अनुभाग है। अपनी भलाई चाहिए तो सदा यह ध्यानमें रखना होगा कि मेरे भाव खोटे होंगे तो तुरन्त ही कर्म बँध जायेंगे। कर्मबन्धनके लिए कहीं बाहरसे नहीं लाना है कर्मको। जीवमें अनेक कार्माण-वर्गणायें हैं जो कर्मरूप परिणमती हैं। उनसे छुटकारा पाना कठिन होगा। तब ही तो लोग कहते हैं कि जो कर्म बाँधे उनका फल भोगना ही पड़ेगा। कोई विशिष्ट ज्ञान हो, वैराग्य हो तो वहाँ कोई कर्म बिना फल दिए झड़ जाय, लेकिन उस प्रसंगमें भी प्रायः करके फल देकर कर्म झड़ते हैं। कोई ज्यादा फल देकर झड़ गया, कोई थोड़ा फल देकर झड़ गया। एक दृष्टि में तो झड़ना ही एक फल है, तो जो कर्म बँध जाता है, फिर मुश्किल है उन कर्मोंसे छुटकारा पाता। जैसे किसी पुरुषकी तबियत ठीक है, स्वास्थ्य अच्छा है, तो वहाँ महसूस नहीं होता कि मैं मीठा अधिक खा लूं तो मेरा बुरा होगा, हलुवा खीर खाऊँ तो बुरा होगा। कोई चीज खानेमें कुछ अड़चनसी नहीं मालूम होती है, मगर खाता हो रहे खूब भोजन तो वह भोजन जिस समय अपना विकार व्यक्त कर देगा, तो फिर उसके ठीक होनेमें एक महीना लग जायगा। पड़े रहेंगे, बुखार हो गया, तड़फड़ाहट हो गयी, खाँसी हो गयी तो जैसे किसी स्वस्थ पुरुषको प्रतिकूल भोजन करनेमें अड़चन नहीं दिखती और स्वादके लोभमें आकर खूब करते जाते हैं, लेकिन वह जब अपना विष फैला देता है भीतर तो महान दुःख भोगना पड़ता है। खाना तो आसान हो गया और कष्ट कठिन हो गए। ऐसे ही जब पुण्यका उदय है तो उसीको समझ लें कि यह कुछ स्वस्थ है मनुष्य, बड़े नटखट हो रहे हैं, उस समय जैसे चाहे मनमाने भोग भोग लें, ताकत है, उसके साधन हैं, लेकिन ऐसे भोग भोगे जा रहे हों तो उनके जो भीतरी भावोंमें विष जमा हो रहा है वह जब फूटेगा तब नारकी बनेंगे, कीड़ा-मकोड़ा बनेंगे। इस भवमें भी दुर्गतिके पात्र बनेंगे और आगे भी दुर्गति होगी। तो हमें सावधान रहना होगा। मेरे कर्म मत बँधो, मेरे भाव विशुद्ध रहें, स्वाध्याय, ज्ञान, सत्संग इनकी ओर लगें। इन बाह्य वैभवोंकी उपेक्षा करें, सन्तुष्ट रहें और ज्ञानकी आराधनामें रहें, इसीमें हमारी आपकी भलाई है।

प्रकृतिस्तत्स्वभावात्मा प्रदेशो देशसंश्रयः।
अनुभागो रसो ज्ञेयो स्थितिः कालावधारणम् ॥६३७॥

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

भावकर्म व द्रव्यकर्मका परिचय—कर्मोंके सम्बंधमें विवरण चल रहा है। लोग कहते तो प्रायः सभी हैं। जिसने जैसा कर्म किया वह वैसा फल पायगा। जिसके कर्ममें जो लिखा सो मिलेगा, पर कर्म क्या है वास्तवमें, इस ओर किसीका यथार्थ निर्णय नहीं हो सकता, लेकिन जैन संतोंने तीर्थंकर महाराजकी दिव्यध्वनिकी परम्परासे जो वर्णन किया है वह वर्णन युक्ति सिद्ध है, समझमें आने वाला है। यथार्थ जंचेगा। कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि आत्मा ने जो भाव किया, जो विचार किया उसका नाम कर्म है और उसका फल मिलेगा। पर इस सम्बंधमें एक बात सोचो कि लोग तो कृत कर्मके फलकी बात सोचते हैं भविष्यमें याने जीव के भावकरूप कर्मका फल। लेकिन उस भावकर्मका फल भाव तो तुरन्त मिलता है। उनके निर्णयकी भविष्यमें बात नहीं है। जैसे किसीके प्रति क्रोधरूप भाव किया यह हुआ उसका कर्म, इसका फल उसे उसी समय मिल गया, अशांत हो गया, क्षुब्ध हो गया, बेचैन हो गया। लोकमें कर्मका फल तो तुरन्त मिल गया, आगे मिलनेकी बात कैसे सम्भव है? जो भाव किया जीवने वह भाव तो होते ही खतम हो गया, अब नये भाव चल रहे हैं तो उन भावोंका फल भविष्यमें कैसे मिलेगा? यह समस्या न सुलझा सकेंगे। वे लोग जो ये मानते हैं कि आत्मा जैसे भाव करता है वही कर्म है और उसका वैसा फल उसे अगले भवमें मिलेगा। यथार्थ बात क्या है कि जीव जो परिणाम करता है, रागद्वेष सुख दुःख आदिक जो कुछ भी भाव खोटे बनते हैं तो आत्माका स्वभाव तो है ज्ञाता दृष्टा रहना। ऐसा न रहकर जो भी क्षोभ आता है उसका फल उसे तुरन्त मिलता है और उस कालमें अन्य सूक्ष्म मैटर जिन्हें कार्माण-वर्गणायें कहते हैं वे कर्मरूप परिणाम जाते हैं। कर्मके सम्बंधमें यह बहुत बड़ी रहस्यभरी बात है। जब वे कार्माणवर्गणायें कर्मरूप परिणम गईं तो जीवके साथ रहती ही हैं। उनकी जब स्थिति पूरी होगी तब उसे कहेंगे विपाककाल। उस समयमें ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग है कि इस जीवको उस कर्मोदयके अनुसार फल भोगना पड़ेगा। चूँकि वह कर्म बँधा है पहिले किए गए भावके निमित्तसे, इसलिए यह कहा जाता है कि जो जीव जैसा परिणाम करेगा वैसा ही अगले भवमें फल भोगेगा। मगर परिणाम तो किया इस जीवने अभी और वह परिणाम नष्ट हो गया, फल अगले भवमें कैसे मिलेगा? उसका समाधान यह है कि उस भावके कारण जो कार्माणवर्गणायें कर्म बन गईं वह कर्मपिण्ड तो इसके साथ रहता है। देखो जीवके साथ यह शरीर रह रहा है ना। इतना तो खूब समझमें आ रहा कि जबसे जन्म हुआ तबसे शरीर साथ लगा हुआ है। तो यह बात बतलाते हैं कि जीवके स्वभावके विरुद्ध दूसरी चीज जीवके साथ लगी रह सकती है। जैसे कि शरीर। शरीर तो लगा रहता है कुछ समय तक। जैसे किसीकी ८० वर्षकी आयु है, ८० वर्ष तक शरीर लगा रहेगा, पर कर्म लगे रहते हैं बहुत काल तक। मरनेके बाद भी कर्मका संबंध नहीं छूटता। कैसे जीवके कर्म लगे हैं? यह शरीर

Report any errors at vikasnd@gmail.com

जो दिख रहा है यह ही मूरत बता रही है कि जीवके साथ कर्म लगे हैं। यदि जीवके साथ कर्म न होते तो शरीर कैसे लग बैठता ? यह भी कर्मके उदयकी बात है। तो यहाँ यह समझना है पहिले कि कर्म क्या चीज कहलाती है ? आत्मा जो भाव करता है उसका नाम है भावकर्म और उस भावकर्मके निमित्तसे जो पुद्गल कर्मरूप दशामें बनते हैं और जीवके साथ रह रहे हैं वे कहलाते हैं द्रव्यकर्म।

प्रकृतिबन्धका परिचय—जिस द्रव्यकर्मकी खोजमें अन्य लोग कोई पहुंच न सके, उस द्रव्यकर्मकी चर्चा यहाँ की जा रही है कि उसमें चार प्रकारका बंध होता है—१–प्रकृतिबंध, २–प्रदेशबंध, ३–स्थितिबंध और ४–अनुभागबंध। उस कर्ममें प्रकृति पड़ जाय, स्वभाव आ गया। यह कर्म इस प्रकारके फलमें कारण बनेगा। ज्ञानावरण कर्म ज्ञानको प्रकट न होने देगा आदिक रूपसे जो कर्मोंमें प्रकृति पड़ जाती है उसे कहते हैं प्रकृतिबंध। जैसे भोजन करते ही उस भोजनमें प्रकृति पड़ जाती है कि यह स्कंध, इतने अणुरसरूप बन जायेंगे, इतने अणु मलरूप बन जायेंगे। प्रकृति पड़ी है ना, और थोड़ा बहुत अंदाज भी हो जाता है। जैसे कोई चना, मसूरकी रोटी खाये तो वह भोजन मलरूप अधिक परिणमेगा और कोई दूध, सब्जी आदि खाये तो उसका मल कम बनेगा। तो देखो प्रकृति हुआ करती है उनमें उसरूप परिणमनेकी। ऐसा अंदाज तो यहाँ भी लग रहा है। तो जो पुद्गल कार्माणवर्गणायें कर्मरूप बन गई है उनमें प्रकृतिके परिणमानेका नाम है प्रकृतिबंध। जैसे यहाँ पदार्थोंमें प्रकृति रहती है, गुड़में मीठा स्वभाव है, नींबूमें खट्टा स्वभाव है, प्रकृति है, ऐसे ही कर्मोंमें भी प्रकृति हो जाती है उसे कहते हैं प्रकृतिबंध। ये कर्म ८ प्रकारके होते हैं तो उनकी प्रकृतियाँ देखिये—ज्ञानावरणकी प्रकृति है ज्ञानको प्रकट न होने देना। ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग है कि जब ज्ञानावरण कर्मका उदय रहता है, जितना उदय होता है तो उसके अनुसार जीवमें ज्ञान व्यक्त नहीं हो पाता। दर्शनावरण कर्मकी प्रकृति है दर्शन न होने देना। आत्मामें दो पद्धतियाँ होती हैं चैतन्यकी। १–पदार्थको जान लेना, २–सामान्य प्रतिभास होना। जिसमें पदार्थका आकार ग्रहणमें न आया, ऐसा सामान्य वह झक्काटा कि जो ज्ञानका सहयोगी हो वह दर्शन है, ऐसे दर्शनको प्रकट न होने देना, यह दर्शनावरणकी प्रकृति है। मोहनीयकी क्या प्रकृति है ? आत्माके सम्यक्त्व गुणका और चारित्रगुणका विकास न होने देना, उसको उल्टा परिणमा देना, यह है मोहनीयकर्मका काम। अंतरायकी क्या प्रकृति है ? शक्तिमें विघ्न आना, वीर्य प्रकट न हो सकना और दान, लोभ भोगोपभोगकी भी शक्ति न प्रकट हो पाना, यह अन्तरायका काम है। जैसे कितने ही कृपण ऐसे होते हैं जिनके धनी होकर भी उनके चित्तमें दान देनेकी बुद्धि नहीं होती, और हो भी तो भी उत्साह प्रकट न हो सकना, भाव न आ सकना, देनेका भाव करके भी लौट जायगा। ऐसी जो भीतरमें चित्तवृत्ति बनती है, ऐसा ही विघ्नका काम है। तो ऐसी

http://sahjanandvarnishastra.org/

प्रकृतियाँ पड़ी रहती हैं। वेदनीयकी क्या प्रकृति है ? इन्द्रियद्वारा सुख-दुःखका उपयोग कराना, यह वेदनीयकी प्रकृति है। जिसे कहते हैं साता असातारूप परिणमन। आयुकी प्रकृति है कि उस आयुकर्मके उदयसे यह जीव शरीरमें रुका रहे। नाम कर्मकी प्रकृति है कि शरीर बना रहे, शरीरका जन्म हो, शरीरमें वर्गणायें आयें, उनको नाना प्रकारकी रचनाओंमें रखें तो ऐसी कर्मकी प्रकृतियाँ होती हैं। गोत्रकर्मकी प्रकृति है ऊँच-नीचका भाव उत्पन्न हो जाय। तो कर्मों में बँधतेके साथ ही यह प्रकृति पड़ जाती है, इसे कहते हैं प्रकृतिबंध।

प्रदेशबन्ध और स्थितिबन्धका परिचय—उन कर्मोंके ही परमाणुओंका परस्परमें बंध हो जाना और उभयबंधकी दृष्टिसे जीवके साथ कर्मका सम्बन्ध हो जाना, यह प्रदेशबन्ध कहलाता है और उन प्रकृतियोंमें जो स्थिति पड़ जाती है उसे स्थितिबंध कहते हैं। कर्मोंमें भी एक आयुकर्म तो ऐसा है कि जिसकी छोटी स्थिति पड़ती है छोटे भावोंसे, संक्लेश भावोंसे या अन्य किसी प्रकारसे, लेकिन बाकी सब कर्मोंकी छोटी स्थिति तब पड़ेगी जब अच्छा भाव होगा। साधु हो, श्रेणीमें हों उनके अन्य कर्मकी स्थितियाँ कम बँधती हैं और मोही, अज्ञानी जीवोंके स्थितियाँ बहुत-बहुत बँधती हैं। एक क्षणके मोहके तीव्र परिणामसे मोहनीयकर्मकी स्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागर तककी बँध जाती है। सागर भी बहुत बड़ा होता है। कोड़ाकोड़ीका अर्थ है कि एक करोड़में एक करोड़का गुणा किया तो जो लब्ध आया उसे कहते हैं एक कोड़ाकोड़ी। ऐसी ७० कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थिति बँध जाती है। अब सागर किसे कहते हैं, इसे समझ लो। सागर (कालका सागर) कितना बड़ा होता है कि उसको कहनेके लिए कोई गणित नहीं है, सिवाय एक उपमाके। उसकी उपमा दी गई है। कल्पना करो कि कोई दो हजार कोशका लम्बा-चौड़ा, गहरा गड्ढा है, उसमें उत्तम भोगभूमिके तिर्यंचके (मेढेके) बाल कतरनीसे इतने छोटे-छोटे टुकड़े किए हों कि जिनका दूसरा टुकड़ा कतरनीसे न किया जा सके उन्हें उसे गड्ढेमें भर दिया गया और उसमें कई हाथी फिरा दिए जायें कि जिससे वह गड्ढा उन रोमके टुकड़ोंसे ठसाठस भर जाये। अब प्रत्येक १०० वर्षमें १ टुकड़ा बालका निकाला जाय तो जितने कालमें वे सब टुकड़े निकल जावें उतने कालका नाम है व्यवहारपल्य याने जिसका सहारा लेकर आगेकी बात बतायी जायगी उसका नाम है व्यवहारपल्य। उससे असंख्यातगुणा होता है उद्धारपल्य, उससे असंख्यातगुणा समय होता है अद्धापल्य। ऐसे १० कोड़ाकोड़ी अद्धापल्यका एक सागर होता है। ऐसे ७० कोड़ाकोड़ी सागरका मोहनीयकर्म बँध जाता है उस भावमें जहाँ तीव्र मोह हो रहा हो।

मोहका भयंकर परिणाम—अब समझ लीजिए भैया! कि मोहमें तुमको क्या मिलेगा ? वैसे भी जान लो। धन वैभवसे जो मोह किया जा रहा, इससे लाभ क्या मिलेगा सो तो बताइये। एक दृष्टान्त दिया है कि कोई एक कंजूस पुरुष था। वह अपने हाथकी मुट्ठीमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

एक रुपया लिए हुए बाजारमें कुछ खरीदनेके लिए जा रहा था। तो मुट्ठी बँधी होनेके कारण हाथकी उस मुट्ठीके अन्दर पसीना आ गया। गर्मीका सीजन था ही। सो वह रुपया पसीनेसे भीग गया। जब चीज तुलाकर रुपया देनेको, भजानेको मुट्ठी खोली तो वह कंजूस उस रुपयेसे कहता है कि ऐ रुपये! तुम रोवो मत, हम चाहे मर जायें, पर जीते जी तुम्हें भजायेंगे नहीं, याने तुम्हें खर्च न करेंगे। तो देखो यह कितनी तीव्र मोहभरी बात है कि चाहे मर जायें, पर उन बाह्य पदार्थोंके प्रति चित्तमें उपेक्षा नहीं जगती। ऐसे तीव्र मोहसे मिलेगा क्या इस जीवन में सो बताओ, और मरकर भी क्या मिलेगा सो बताओ? देखो भैया! जिनेन्द्रदेवके शासन का शरण पाया है, हृदयको बोझरहित बना लें, सम्यग्ज्ञान जगा लें और सम्यक्त्वसे आत्माको सुवासित बना लें और संसारके संकटोंसे छूटनेका उपाय बना लें, जीवन इसमें सफल होगा। और बातोंमें सफल न होगा। और देखो—मोहमें दुःख कितना है, रोज-रोज दुःखी होते सो भी भोगते जाते हैं। लड़का आँख दिखाये, बहू आँख दिखाये, स्त्री आँख दिखाये और मान लो कि अनुकूल भी हो, आज्ञाकारी हो तो उस आँख दिखानेसे भी अधिक दुःख भोगना पड़ता है। आँख दिखानेका तो दुःख कम है। कोई स्त्री-पुत्र आदिक नाराज हो जाय, बुरा बोलने लगे उससे दुःख हो जाय, वह तो थोड़ा है, और कोई स्नेहमें रहे, मोहमें रहे, आज्ञा माने, बड़ा राग दिखाये, उसका दुःख बहुत अधिक कठिन है। इस मोहसे मिलेगा कुछ नहीं। इससे उपेक्षा होनी चाहिए। ऐसी-ऐसी कर्मोंकी स्थितियाँ बँधती हैं और जब उन कर्मोंका उदय आता है तो उसके अनुसार फिर फल भोगना पड़ता है। क्या फल है? यही कि जो संसारके सब जीव समझमें आ रहे हैं—कुत्ता है, बिल्ली है, कीड़ा-मकोड़ा आदि ये जो दिख रहे हैं, यह ही तो फल है मोहका। एक शराबी शराबकी दूकानमें गया तो बोला—भाई मुझको अबकी बार बहुत बढ़िया असली शराब देना। तो दूकानदार बोला—हाँ हाँ बहुत बढ़िया असली वाली ही देंगे।....अजी बहुत बढ़िया वाली दो।....हाँ हाँ, सबसे बढ़िया वाली देंगे। और हमारी शराब बढ़िया है या नहीं, इसकी परख कर लो इन १०-१२ लोगोंको देखकर जो कि नालियोंमें बेहोशी हालतमें पड़े हुए हैं और जिनके ऊपर कुत्ते भी मूत रहे हैं। यही हमारी शराबके अच्छी होनेका प्रमाण है। तो ऐसे ही संसारमें दुःख बहुत हैं। मोहमें कठिन दुःख है। कर्म बहुत कठिन चीज है, यह समझमें ही नहीं आता हो तो देख लो इन दुःखी जीवोंको कि संसारमें मोहका यह फल होता है। इन कर्मोंमें जो स्थितियाँ हैं सो जब तक सत्ता है तब तक कर्म जीवके साथ रह रहे हैं, कोई बिगाड़ नहीं है। जब विपाककाल आता, उदय होता है तब जीवको उसका कटुक फल भोगना पड़ता है।

अनुभागबन्धका परिचय—चौथा बंध है अनुभाग—बद्धकर्ममें फलरूप देनेकी जो शक्ति है उसका नाम अनुभागबंध है। शक्तियोंमें तरतमता होना प्राकृतिक बात है। कोई कर्म

http://sahjanandvarnishastra.org/

थोड़ा फल देनेका अनुभाग रखता है, कोई अधिक फल देनेका अनुभाग रखता है। जैसे यहाँ जो भोजन किया उसका जो रस रहा बना तो देखो—कोई रस तो इस शरीरमें अधिक शक्ति प्रदान करता है, कोई रस कम शक्ति प्रदान करता है। वीर्य सबसे अधिक शक्ति प्रदान करता है। तो क्या मांस-मज्जा शक्ति प्रदान नहीं कर रहे ? ये कम करते हैं। तो क्या ये मल-मूत्र कुछ शक्ति प्रदान नहीं करते ? ये भी कर रहे हैं। आयुर्वेदमें बताया कि प्रत्येकके शरीरमें कमसे कम ढाई सेर तो मल रहना चाहिए। न रहे तो वह मरणोन्मुख हो जायगा। तो जिस शरीरको देखकर हम खुश होते हैं, जिसको नहलाते हैं, बड़ी प्रीति करते हैं, उस शरीरमें, पेट में भरा क्या है ? कमसे कम ढाई सेर मल तो हर एकके पेटमें होगा। वह भी शक्ति प्रदान करता है। ऐसे ही समझिये कि इन कर्मोंमें नाना प्रकारके फल देनेका रस पड़ा है, शक्ति बसी है। तो देखो सारी करामात इस अनुभागबन्धकी है। यद्यपि इन तीन बंधोंके बिना अनुभाग बंध ठहरेगा कहाँ ? लेकिन तत्काल जो हमपर आक्रमण होते हैं वे शक्तिके साथ, फोर्सके साथ होते हैं। वह फोर्स क्या है ? अनुभागबंध। तो इस प्रकार यहाँ यह बताया है कि कर्ममें ४ प्रकारका बन्ध है।

कर्मस्थितिविवरणका प्रकृत प्रयोजन सम्यक्त्वमें रसास्वादकी भिन्नताका अभाव बताना—कर्मोंमें स्थितिका भेद है। उस स्थितिके भेदसे जीवके विभावोंमें भेद होता है और उस स्थितिके भेदसे चूँकि उपशम हो जाय तो यह स्थिति तो उमड़ेगी, उसका सम्यक्त्व मिट जायगा। या क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमें भी क्षयोपशम ही तो है दर्शनमोहको सत्ता है, वहाँ पर भी दर्शनमोह उपशममें बैठा है, उसका उदय आयगा, सम्यक्त्व मिट जायगा। तो यों सम्यक्त्वके मिटनेका कारण दर्शनमोहका विपाक है, लेकिन रागभाव सम्यक्त्वको मिटानेमें समर्थ नहीं है। तभी सम्यग्दृष्टि जीवके जो राग रहता है उस रागमें यह सामर्थ्य नहीं है कि उसका सम्यक्त्व मिटा दे, रागचेतनाको नष्ट कर दे, सम्वर निर्जराको हटा दे। यह बात चल रही है मूलमें इस प्रकरणपर कि यह बताया गया था कि ज्ञानचेतनामें संक्रमण नहीं होता। जैसे हमारे और-और ज्ञानोंमें परिवर्तन होता है, अभी चौकी जान रहे थे, अब कुछ और जान लिया, इस तरहसे संक्रमण ज्ञानचेतनामें नहीं होता। उस ही पर नाना प्रश्नोत्तर होते-होते जब अंतिम शङ्का यह आयी कि रागके उदय होनेसे दर्शनमोहका उदय बन बैठेगा, उसके समाधानमें यह सब बात बतायी जा रही है कि दर्शनमोहका उदय उसकी स्थितिसे होगा, रागके होनेसे न होगा। उस स्थितिको बतानेके लिए कर्मोंका यहाँ संक्षेपरूपमें विवरण किया गया है और यह सिद्ध किया गया है कि तीनों सम्यक्त्वमें स्थितिकृत भेद तो है, किन्तु अनुभव रसास्वादका भेद नहीं है।

स्वार्थक्रियासमर्थोऽत्र बन्धः स्याद्रससञ्ज्ञिकः।
शेषबन्धत्रिकोऽप्येष न कार्यकरणक्षमः ॥९३८॥

Report any errors at vikasnd@gmail.com

अनुभागबन्धकी प्रधानता—जीवके कषायभावका निमित्त पाकर कर्मोंका बंध होता है। यद्यपि यहाँ भी सूक्ष्मदृष्टिसे देखा जाय तो व्यवस्था यह है कि जो कर्म उदयमें आये हैं वे उदयागत पुद्गल कर्म नवीन कर्मोंके आस्रवके कारण होते हैं, किन्तु उन उदयागत कर्मोंमें नवीन कर्मोंके आस्रवका कारणपना आये, इसमें निमित्त होते हैं रागद्वेष मोहभाव। तब असली बात तो रागद्वेष मोह भावपर निर्भर रही, अतः सीधा कथन यों कर दिया जाना चाहिए कि रागद्वेष मोहका निमित्त पाकर जीवमें नवीन कर्मोंका आस्रव होता है। आये कर्म और वे जीवमें बँध गए। अब उन बद्ध कर्मोंमें ४ विभाग बनते हैं—प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, स्थितिबंध और अनुभागबंध। उनमें आदत है, स्वभाव बन गया कि ये कर्म इस फलको देंगे, इस प्रकार के फल देनेका स्वभाव रहेगा। प्रदेशमें उन कर्मोंका अभाव बन गया, स्थितिमें कर्मोंकी म्याद बन गयी। कितने दिनों तक कर्म जीवमें टिकेंगे और अनुभागमें फलदान शक्ति बँध गई कि यह कर्म इतनी डिग्रीका, इतनी तीव्रता मंदताका फल देगा। तो इस श्लोकमें यह बता रहे हैं कि इन चार प्रकारके बंधोंमें अनुभागबंधका महत्त्व हैं, क्योंकि अनुभागबंध ही स्वार्थक्रिया करनेमें समर्थ है। फल देनेकी जो शक्ति है उसपर ही तो यह सारी संसारकी विडम्बना निर्भर है। शेषके जो ३ बंध हैं वे तो अनुभागबंध आ सकें, ऐसी द्रव्यसे सम्बन्धित बात है, मगर शक्ति तो अनुभागकी है कि वह किस डिग्रीका फल दे सकता है? कहते हैं कि इसपर भी तीव्र मोह हो गया तो वहाँ बात क्या हुई कि मोहनीय कर्मका तीव्र अनुभाग है जिसका कि उदय रहता है। साक्षात् दुःख तो इस अनुभागबंधके कारण है। उस अनुभाग शक्तिमें न्यूनता आये तो थोड़ा फल मिले, अधिकता आये तो अधिक फल मिले। इस तरह कर्मोंके चार बंध बताकर उनमें स्थिति और अनुभागबंधकी बात कही गई है। अब प्रकृत बातको कहते हैं। कर्मका आवरण करनेका प्रयोजन क्या था यहाँ? इसीको सारांश रूपमें कह रहे हैं—

ततः स्थितिवशादेव सन्मात्रेप्यत्र संस्थिते।
ज्ञानसञ्चेतनायास्तु क्षतिर्न स्यान्मनागपि ॥६३६॥

सम्यक्त्वोंमें स्थितिभेद होनेपर भी ज्ञानचेतनाकी क्षतिका अभाव—शकाकारकी शङ्का यह थी कि सम्यग्दृष्टि जीवके रागभाव आ जाय तो दर्शनमोहका उदय आ जाना चाहिए, सम्यक्त्व नष्ट हो जाना चाहिए और फिर उसके ज्ञानचेतना नहीं रहेगी। उसके उत्तरमें यह बताया था कि सम्यग्दृष्टिके जो राग है उस रागके उदयमें यह सामर्थ्य नहीं है कि सम्यक्त्वका विघात वह कर दे, किन्तु दर्शनमोहनीयका उदय आये तो सम्यक्त्व विघट जायगा, मिथ्यात्व आ जायगा तो जब तक सम्यक्त्व है तब तक दर्शनमोहका उदय नहीं है। क्यों नहीं उदय है, क्यों नहीं सम्यक्त्व मिटा? तो इसकी वजह है उपशम, क्षय। जिन कर्मोंको दबा दिया है उस समयमें उस स्थितिके कर्म वहाँ नहीं हैं। अगली स्थिति उदयमें आती है तो उपशम

http://sahjanandvarnishastra.org/

सम्यक्त्व मिट जाता है । क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमें भी वे प्रकृतियाँ उपशान्त होती हैं तथा उदयाभावरूपसे क्षत हो जाती है । उनका उदय आयगा तो वह भी मिटेगा और जब तक नहीं उदय है, इस सम्यक्त्वकी स्थिति बन रही है । औपशमिक सम्यक्त्व अन्तर्मुहूर्तको होता है २-१ मिनट जितना भी नहीं । बादमें या तो क्षायोपशमिक हो जायगा या मिथ्यात्वमें आ जायगा, सासादन हो तो भी मिथ्यात्वमें आनेकी बात रही । क्षायोपशमिक सम्यक्त्वकी स्थिति है कमसे कम अन्तर्मुहूर्त और अधिकसे अधिक ६६ सागर तक, और क्षायिक सम्यक्त्वकी स्थिति है अनंतकाल तक । संसार अवस्थाकी दृष्टिसे क्षायिक सम्यक्त्वकी स्थिति है कुछ अधिक ३३ सागर । तो सम्यक्त्वकी यह स्थिति है । उस सम्यक्त्वमें स्वयं उस स्थितिसे भेद बना रहे, लेकिन सम्यक्त्वके कालमें जो रसानुभव होता है, आत्मस्वरूपके दर्शनका जो आनंद होता है वह तो सबके समान है । तीनोंका सम्यग्दर्शनमें स्थितिकी अपेक्षा उसके सत्त्व रहनेमें भेद भर है, किन्तु ज्ञानचेतनाका विनाश नहीं है ।

ज्ञानचेतनाकी अलौकिक समृद्धिरूपता—भैया ! ज्ञानचेतनाका महत्त्व समझिये । संसारमें हम आपका कोई अलौकिक वैभव यदि है, अलौकिक आनन्दका कोई स्थान है तो वह है ज्ञानचेतना । सर्वत्र बाह्य दृष्टिमें दुःख है । जीवको सुख और आनन्द स्वयं अपने आप है । स्वभाव ही उसका यह है, लेकिन अज्ञानचेतनामें रहता है, अपनेको ज्ञानस्वरूप अनुभव नहीं कर पाता है, बाह्य पदार्थोंमें रागद्वेष बनाता है, इस कारण उसके दुःख ही दुःख बना रहता है । सुखी होना, शान्त होना, अपना उद्धार कर लेना अपने हाथ बात है । इस मनको मारना होगा, इन विकल्पोंके निर्देशमें न चलना होगा और आत्माका जो सहज सत्त्व स्वरूप है उसमें रमना होगा । बाकी जितने भी मोह हैं, वैभव है, घर हैं, परिवार हैं, प्रीति है, इज्जत है, परिचय है ये सब विकार हैं, तृणकी तरह असार हैं । आत्माको इनसे कुछ लाभ नहीं मिलता, किन्तु जहाँ दुनियामें मोही मोही प्रायः बस रहे हैं, उनके बीच पड़ रहे हैं, दिखते हैं, व्यवहार होता है, तो इस निर्णयपर टिक नहीं पाते और लगने लगता है कि ऐसा तो करना चाहिए, इससे हमारी पोजीशन बढ़ती है, इससे मेरेको सुख मिलेगा, लोग प्रीति करेंगे । कैसा यह चक्र है, इस चक्रसे वह ही पुरुष छूट सकता है, जिसने आत्माके सहज ज्ञानस्वरूपका अनुभव किया हो ।

सत्यके आग्रहमें असत्यका असुहावना लगनेकी स्वाभाविकता—देखो जिस किसी पुरुषको किसी बातकी हठ हो जाय, चाहे वह हठ बुरी भी हो, लेकिन उस हठी पुरुषको कोई कुछ समझता तो उसका चित्त बदलता तो नहीं है । उसे ये सब बातें असारसी लगती हैं, और जिसकी हठ कर लिया वही सार लगता है । सीताका भाई भामंडल विद्याधरोंकी नगरीमें रहता था । यहाँ क्रुद्ध होकर नारदने सीताका चित्रपट भामण्डलके सामने रख दिया । भामंडल

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

उस चित्रको देखकर ऐसा मुग्ध हुआ कि ऐसी हठ हो गई कि जिसका यह फोटो है उसके साथ ही विवाह होना चाहिए। खाना-पीना न सुहाये, कोई बात न सुहाये। उसे कोई समझाये तो वे बातें असार लगें। सार तो यह ही है। इसका मिलन ही सार है। सारी बातें असार जंचीं। कोई कितना ही समझाये, पर चित्तमें तो नहीं उतरता था। यह एक झूठे हठ की बात बतला रहे हैं। फिर आखिर भामंडल इस धुनमें आ गया। रास्तेमें उसे जातिस्मरण हुआ और पछताया कि मैंने क्या खोटे भाव किये, वह तो मेरे साथ उत्पन्न हुई बहिन है। कुछ भी हो—खोटी हठमें कोई आये तो पीछे नियमसे पछताना पड़ता है। मगर यह समझ लीजिये कि हठ होनेपर अन्य बात सुहाती नहीं है। अब यहाँ सच्चे हठकी बात देखिये—सत्याग्रहकी बात, जो यथार्थ है, तथ्यकी बात है, त्रिकाल सत्य है, ध्रुव सत्य है, मेरा सहजस्वरूप मेरे सत्त्वके कारण अपने आप होने वाली जो एक ज्ञानज्योति है, जिसके न बंध है, न मोक्ष है, न नर-नारकादिक पर्यायें हैं, स्वभावदृष्टिको निरखकर कहा जा रहा है यह, स्वभावकी बात कह रहे हैं यह। स्वभावतः जीवमें ये कोई खटपटें नहीं हैं, ऐसा जो यह ज्ञानस्वभावमात्र अंतस्तत्त्व है बस यही मैं हूं और हूं ही नहीं, ऐसा दृढ़ निर्णय हो एक बार तो फिर उसे कोई कितना ही समझाये कि तुम तो फलाने चंद हो, फलाने लाल हो, फलानी बिरादरीके हो, फलाने गोत्रके हो, फलानी दूकानके हो, उसे नहीं जंचता, एक ही बात प्रतीतिमें है—ज्ञानज्योति स्वभावमात्र यह मैं हूं, ऐसा इस सत्यका आग्रह बन जाय, उसे सारे विषय असार लगते हैं, कुछ भी सार नहीं। ऐसा इस ज्ञानचेतनाका जिसके उपयोग बन जाय उस पुरुषकी सम्पन्नता की तुलना तीन लोककी सम्पदा भी इकट्ठी हो जाय उससे नहीं हो सकती है।

ज्ञानचेतनाके लाभके समक्ष त्रिलोकसम्पदाकी तुच्छता—देखो भैया! हो गया ढेर लाख करोड़का, तुम तो अकेले ही हो, निराले हो, शरीर छोड़कर जाना पड़ेगा, मरण होगा, और जब है तब भी तुम्हारा कुछ नहीं है। उसमें क्या सार है? एक आत्मस्वरूपका भान हो, आत्मस्वरूपकी दृष्टि हो तो इससे बढ़कर जगतमें कहीं कुछ वैभव नहीं। एक मेरी आत्मदृष्टिके कार्यको छोड़कर बाकी सारे काम, सारे लोग, सारी वस्तुवें किसी भी प्रकार परिणमे, मेरा उसमें कोई दखल नहीं है। मेरेको उसमें कोई क्षोभ न होना चाहिए। यह ज्ञानचेतनाका वैभव जिसने पाया वह वास्तवमें अमीर है, शेष तो गरीब हैं; तृष्णावान् हैं और फिर उन तृष्णावानोंमें जो कृपण हैं वे तो दयापात्र हैं। जिन्होंने आत्मस्वरूपका अनुभव नहीं किया वे पुरुष दुःखमें ही रहेंगे, चाहे राष्ट्रपति बन जायें, चाहे सर्वविश्व राष्ट्रसंघके प्रधानमंत्री बन जायें। कोई भी बड़ेसे बड़ा पद मिल जाय, जो कि लोकव्यवहारसे माना जाता हो, तो वह भी दुःखी रहता, व्याकुल रहता। तो एक ज्ञानचेतनाका वैभव प्राप्त हो, इसके लिए यत्न करो। आपको इसका महत्त्व दिलमें समाया है, इसकी निशानी यह है कि आप सोचें कि जैसा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तन, मन, धन, वचन परिवारके लिए लुटा रहे हैं, दुनियामें इज्जत पानेके लिए लुटा रहे हैं उतना तन, मन, धन, वचन एक ज्ञानके खातिर हम समर्पण करनेके लिए तैयार हैं या नहीं ? यदि तैयार हैं तो समझो कि इस ज्ञानचेतनाका महत्त्व हमारे चित्तमें समाया है। उस ज्ञान-चेतनाके सम्बंधमें यह प्रकरण चल रहा है कि ज्ञानचेतनाका विघात होगा तो सम्यक्त्वके विघातके साथ होगा। सम्यक्त्वका विघात दर्शनमोहके उदयमें होगा। बचे-खुचे रागभाव सम्यक्त्वको, ज्ञानचेतनाको मिटानेमें समर्थ नहीं हैं।

एवमित्यादयश्चान्ये सन्ति ये सद्गुणोपमाः।
सम्यक्त्वमात्रमारभ्य ततोप्यूर्ध्वं च तद्वतः ॥६४०॥

स्वसंवेदनप्रत्यक्षं ज्ञानं स्वानुभवाह्वयम्।
वैराग्यं भेदविज्ञानमित्याद्यस्तीह किं बहु ॥६४१॥

सम्यक्त्वके साथ रहने वाले स्वसंवेदनप्रत्यक्ष, ज्ञान व स्वानुभवका निर्देशन—सम्यग्दर्शनके साथ-साथ और उसके आगे भी जो गुण प्रकट होते हैं उनकी चर्चा इन दो श्लोकोंमें की जा रही है। जो गुण प्रकट हुआ है आत्मामें स्वानुभव, स्वसम्वेदनप्रत्यक्ष, ज्ञान, भेद-विज्ञान वे सब सम्यक्त्वके साथ रह रहे हैं, इस कारण सद्गुण है, और सम्यक्त्वके साथ न हो तो वह सद्गुण नहीं हो सकता। देखो—स्वसम्वेदन ज्ञान नाम सीधा है। स्व आत्माका सम्वेदन कहो, जानन होना कहो, सम्यक्त्वके साथ है तो वह सद्गुण है। तो जिज्ञासा हो सकती कि क्या स्वसम्वेदन सम्यक्त्वके बिना भी हो जाता है ? हाँ हो जाता है। दार्शनिक लोग जानते हैं। जहाँ ज्ञानकी यह परिभाषा दी है कि स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय कराने वाला ज्ञान प्रमाण होता है। तो लो ज्ञानने स्वका सम्वेदन तो किया। प्रत्येक ज्ञान स्वका सम्वेदन करता है, जो नहीं समझ पाता है कि मैंने अपने ज्ञानको जाना वे लोग भी ज्ञान द्वारा ज्ञानका सम्वेदन करते रहते हैं, पर ज्ञानरूपमें नहीं कर पाते। बस इतना फर्क रहता है। आत्माको कौन नहीं जानता ? पर यह मैं आत्मा हूं, इस प्रकारसे नहीं जान पाते। सबके अपने अन्दर अनुभव चलते हैं, पर परपदार्थोंमें उपयोग होनेके कारण उन अनुभवोंसे वे जीव यह नहीं समझ सकते कि यह मैं हूं। खैर ऐसा भी जान लो कि सम्यक्त्व होनेपर उससे और आगे जो भी प्रकट होता है वह क्या है ? स्वसंवेदनप्रत्यक्ष, अपने आपके निर्मल ज्ञानमें आत्माके सहज ज्ञानस्वरूपका परिचय होना सम्यक्त्वके साथ यह सद्गुण होता है। ज्ञान होना, सम्यक्त्वके साथ जो ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान है। सम्यक्त्वके बिना जो ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान नहीं है। उसे हम क्या कहें ? ऐसी स्थिति होती है कि जान तो रहा है वह सच-सच, पर सम्यक्त्व नहीं है तो उसे क्या कहा जाय ? मोक्षमार्गकी पद्धतिमें यह मिथ्याज्ञान कहा गया

Report any errors at vikasnd@gmail.com

है। स्वानुभव—आत्माका जैसा सहजस्वरूप है उस प्रकार उसका अनुभव होना स्वानुभव है।

सम्यक्त्वके साथ रहने वाले वैराग्य नामक सद्गुणका निर्देश—वैराग्य यह तो अमृत है ही। जितने लोग दुःखी हैं वे वैराग्यके अभावसे दुःखी हैं। इन्हें वास्तवमें कोई दुःख है ही नहीं, ये बना-बनाकर दुःख भोग रहे हैं। बाह्य वस्तुयें हैं, उनकी सत्ता है, उनमें उनका उत्पाद व्यय ध्रौव्य है। सभी पदार्थ अपने आपमें परिणमते रहते हैं, उनसे मेरा कोई वास्ता नहीं। उनका सत्त्व उनमें है, मेरा सत्त्व मुझमें है। जिन-जिन वस्तुओंमें आपको मोह होता उन-उन वस्तुओंको अपने ज्ञानके नेत्रोंके समक्ष धरकर सुनो—मेरा उनमें न अस्तित्व है, न गुण है, न पर्याय है। कुछ भी तो सम्बंध नहीं, फिर क्यों कहा जा रहा कि मेरा यह सब कुछ है? इसके बिना मेरा जीवन हो नहीं रह सकता! यह मोह है, भ्रम है, अज्ञान है। जब किसी भी परवस्तुके अन्दर मेरा गुण पर्याय कुछ भी नहीं है तो वह कैसा ही परिणमे? क्यों विकल्प करके दुःखी होऊँ? वर्तमान पर्यायमें इतनीसी विवशताकी बात है कि खाये-पिये बिना काम नहीं चलनेका। तो इसका राग बना है, वह राग सब व्यवस्था बना रहा है, सब काम बन रहे हैं, पर तुम मोह ही करो, भ्रम ही मानो, यह ही मेरा सब कुछ है, इसकी तो आवश्यकता नहीं। घरमें रहते हुए भी मोहकी आवश्यकता नहीं है। कोई सोचे कि मोह न करें तो घर कैसे चलेगा? घर तो चल जायगा, मगर संसार न चलेगा। तुम्हें संसार चलाना हो और दया आयी हो कि कहीं ऐसा न हो कि संसारके जीव मोक्षमें चले जायें और यह संसार जीवोंसे रहित हो जाय तो ठीक है, तुम बने रहो संसारमें, खूब मोह किए रहो और जन्म-मरणके चक्रमें रहकर संसारको आबाद बनाये रहो। मोह न करो तो संसार तो न चलेगा, मगर तुम्हारा घर तो चल जायगा, उसमें कमी न आयगी। न करो मोह तो भी घर चलेगा। हाँ थोड़ा यह कह सकते कि राग न रहेगा घरमें तो घरका काम कैसे चलेगा? तो यह बात तो तुम्हारी ठीक है, मगर राग कहो या प्रेम कहो, उसके अंश-अंश भी अधर्म हैं। किसी भी अंशमें प्रेमको धर्म नहीं कहा जा सकता। वह तो व्यवहारमें लोग कह देते हैं मोटे अधर्मकी दृष्टिसे कि लो यह प्रेम तो धर्म है, पर प्रेमका जो स्वरूप है, तात्त्विक दृष्टि करो, वह कभी धर्म हो ही नहीं सकता। धर्म तो आत्माका ज्ञानस्वभाव है। ऐसा जीवन बनाओ कि वैभवके बीच रहकर भी वैराग्य रहे, अपने ज्ञानस्वरूपकी सुध रहे, निकट कालमें मोक्ष पाये, जन्ममरणके संकटोंसे छूटकारा पाये, ऐसी स्थिति हमें पानी चाहिए। तो वैराग्य एक बहुत उच्च सद्गुण है, अमृतपान है।

सम्यक्त्वके अभावमें यथार्थ वैराग्य सद्गुणकी अनुपपत्ति—भैया! यदि राग नहीं है तो कोई दुःख नहीं है। राग आ गया तो दुःख आ गया। सब घटनाओंमें अनुभव कर लो। एक गुरुके पास कोई शिष्य पढ़ने आता था तो एक दिन वह शिष्य पढ़ने न आया। दूसरे दिन

http://sahjanandvarnishastra.org/

गुरुने पूछा कि कल तुम पढ़ने क्यों नहीं आये थे ? तो शिष्य बोला–महाराज ! कल मेरी सगाई थी, इसलिए नहीं आया था । तो गुरुने कहा कि अब तो तुम गाँवसे गए । देखो होता है ना ऐसा कि सगाई हो जानेके बाद फिर वह ससुराल वाला गाँव ही ध्यानमें बना रहता है । अभी उस गांवको नहीं देखा, वहाँके लोगोंका, वहाँके घर वगैराका कुछ पता नही है, पर उसे वे ही ध्यानमें बने रहने लगते हैं । तो गुरुने कहा कि अब तो तुम गाँवसे गए । कुछ दिन बाद शिष्य फिर न आया किसी दिन, तो गुरुने पूछा—कल तुम पढ़ने क्यों न आये थे ? तो शिष्य बोला—महाराज ! कल मेरी शादी थी, इसलिए नहीं आया था । तो गुरुने कहा कि अब तो तुम घरसे गए । देखो शादी होनेके बाद वे साला, साली, सास, स्वसुर आदि ही सब कुछ दिखने लगते हैं । कुछ दिन बाद शिष्य फिर एक दिन न पहुंचा तो फिर गुरुने पूछा कि कल तुम पढ़ने क्यों न आये थे ? तो शिष्यने बताया कि कल मेरा गौना था, पत्नी घर आयी थी इससे न आया था–-तो गुरुने कहा—अब तो तुम अपने माँ-बापसे भी गए । (देखो होता है ना ऐसा कि जब नई-नई पत्नी घर आती है तो उस व्यक्तिका ध्यान उसी तरफ अधिक बना रहा करता है । उस स्त्रीका ही पक्ष लेता है । माँ-बापकी तो परवाह ही नहीं करता है ।) तो देखिये इस रागके कारण कितनी विडम्बनायें इस जीवकी बन रही हैं ? यह राग तो इस जीव के लिए विषकी तरह है । यह राग न रहे, वैराग्य जगे, बस यही अमृतपान है । यह वैराग्य सम्यक्त्वके साथ ही प्रकट होता है । सम्यक्त्वके बिना वैराग्य कोई वैराग्य नहीं है, और वैराग्यके मायने हैं रागका हटना, ज्ञानमें राग न आये, रागसे उपयोग दूर रहे तो भला यह बात बताओ कि रागसे उपयोगको दूर रखा तो क्या अपने धामसे भी दूर रह जायगा वह उपयोग ? उस उपयोगका आधार क्या रहेगा ? अरे उस उपयोगका आधार स्व आत्मा रहेगा तो रागसे हटना बन जायगा, अन्यथा रागसे हटना बन नहीं सकता । किसी पुरुषको आत्मा का तो ज्ञान है नहीं, आत्मस्वरूपमें तो टिक सकता नहीं और छोड़ दिया भोजन, छोड़ दिया घर, मंदिरमें ही रह रहे, लोगोंसे भी कह दिया कि हमारा तो दो दिनका उपवास है, तो ठीक है, भोजनमें तो राग नहीं रहा, हो तो हो जाने दो, लेकिन मैंने उपवास किया है, इस तरहका जो भाव बन रहा है लोगोंके बीच बैठकर उस भावका त्याग नहीं हुआ, उसका राग नहीं छूटा तो फिर वह वैराग्य कहां रहा ? सम्यक्त्वके साथ यदि वैराग्य हो तो वह वास्तविक वैराग्य है ।

सम्यक्त्वके साथ भेदविज्ञानकी सद्गुणरूपता—ज्ञानी आत्माके सम्यक्त्वके साथ एक भेदविज्ञान सद्गुण भी प्रकट हुआ है । सम्यक्त्वसे पहिले भी समझा—जीव अलग, पुद्गल अलग जब स्वानुभूति होती है, समस्त परभावोंसे सहज ज्ञानज्योति स्वरूपका अनुभव होता है तब समझा—जीव अलग, पुद्गल अलग, इन दोनों समझोंमें कुछ फर्क है कि नहीं ? जो नहीं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

गया है जैनबद्री, यहींसे सुन रहा है कि बाहुबलिकी ऐसी मूर्ति है, इतनी लम्बी-चौड़ी है, खूब जान रहा है। लिखा हुआ है पुस्तकोंमें, उसे पढ़-पढ़कर उस मूर्तिकी पूरी जानकारी कर लिया है, एक तो यह ज्ञान और दूसरा यह ज्ञान कि खुद वहाँ जाकर उस बाहुबलि स्वामीकी मूर्ति का दर्शन कर आये, तो बताओ इन दोनों ज्ञानोंमें अन्तर है कि नहीं ? अन्तर है। एक तो है अनुभवात्मक ज्ञान और एक है परिचयात्मक ज्ञान। जिसे अनुभवात्मक ज्ञान है बाहुबलि स्वामीकी प्रतिमाका उसे यद्यपि सूक्ष्म नापकी बात सही सही ज्ञात नहीं है कि उस मूर्तिके हाथ इतने लम्बे हैं, पैर इतने लम्बे हैं, पैरोंके अंगूठे इतने लम्बे हैं आदि, और एक परिचयात्मक ज्ञान करने वालेको सब मालूम है कि मूर्तिका कौन अंग कितने फुटका लम्बा-चौड़ा है, इतनेपर भी इन दोनोंके ज्ञानमें बड़ा अन्तर है। जिसे अनुभवात्मक ज्ञान है उसे वास्तविक भेदविज्ञान है। तो ऐसे ही समझिये कि वास्तविक भेदविज्ञान वहाँ ही है जहाँपर आत्माका अनुभवात्मक ज्ञान हुआ है। ऐसे सम्यग्दृष्टिके सद्गुणोंकी बात कही जा रही है—ये समस्त सद्गुण सम्यक्त्वके साथ उत्पन्न होते हैं।

अद्वैतेपि त्रिधा प्रोक्ता चेतना चैवमागमात्।
यथोपलक्षितो जीवः सार्थनामस्ति नान्यथा ॥६४२॥

चेतनाकी त्रिविधता—जीवका लक्षण चेतना है, प्रतिभास है। जैसे हम बाहरमें अनेक वस्तुओंको देखते हैं। कुछ वहाँ पता पड़ता है, यह पिण्ड है, वजनदार है, हाथमें लेकर बता सकते हैं—इस प्रकार इस चेतनको भी समझा सकते हो या समझ सकते हो क्या ? इसकी समझ एक चेतन भावको ही लक्ष्यमें लेकर होती है। मैं चैतन्यमात्र हूं, प्रतिभासस्वरूप ज्ञानमात्र हूं, जानना जानना ही जिसका स्वरूप है, जिसका जानना स्वरूप है वह नियमसे अमूर्त ही हो सकता। जिसका जानना स्वरूप है वह नियमसे सूक्ष्मतर हो सकेगा। ऐसा यह मैं चैतन्यमात्र हूं। जीवका लक्षण चेतना है। यह चेतना चेतना ही तो है, अद्वैत है, एक है। किसी भी पदार्थका स्वरूप सहज अपने आप अपने सत्त्वसे एक स्वरूप ही होता है। उसमें भेद नहीं हुआ करता, तो स्वरूपतः इस चेतनामें कोई भेद नहीं है। अद्वैत है, फिर भी आगमके अनुसार देखिये, दृष्टि लगाकर देखिये। चेतना ३ प्रकारकी कही गई है—१–ज्ञानचेतना, २–कर्मचेतना, ३–कर्मफलचेतना। ज्ञानचेतनाका अर्थ है कि मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानको ही करता हूं, ज्ञानको ही भोगता हूं, ज्ञानरूप ही बर्तता हूं, ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है, ज्ञानातिरिक्त कुछ भी नहीं है। इस तरह अपनेको ज्ञानमात्र चेतना, इसका नाम है ज्ञानचेतना। कर्मचेतना—ज्ञानको छोड़कर अन्य क्रियावोंमें, अन्य बातोंमें, अन्य परिणतियोंमें, अन्य अवस्थाओंमें इसे मैं करता हूं—इस प्रकारका अनुभव करना, विकल्प करना, इसको कहते हैं कर्मचेतना। कर्मफलचेतना—ज्ञानके सिवाय याने ज्ञानको छोड़कर अन्य कुछ मैं भोगता हूं, विषयोंको

भोगता हूं, रूप भोगता हूं, भोजन भोगता हूं आदि प्रकारसे ज्ञानातिरिक्त भावोंको भोगनेका विकल्प करना, मैं भोगता हूं, ऐसी प्रतीति रखना सो कर्मफलचेतना है।

अद्वैत होनेपर भी चेतनाके कर्मके निमित्तसे त्रिविधताका विवेचन—चेतना तो एक ही प्रकारकी है, लेकिन कर्मकी उपाधिसे इसमें तीन भेद आ गए। कर्मचेतना और कर्मफलचेतनामें कर्म उपाधिका सम्बंध प्रकट है, कर्मका उदय है, इस कारण यह कर्मचेतना व कर्मफलचेतना होती है, पर ज्ञानचेतनामें कर्मका अभाव, कर्मका क्षयोपशम, कर्मका उपशम याने कर्म उपाधिका कुछ हट जाना, बिल्कुल हट जाना, यह कारण है। भेद बननेमें कर्मका निमित्त रहा ना। कहीं हटाव रूपसे रहा, कहीं उदयरूपसे रहा। चेतना तो एक ही प्रकारके स्वरूपमें है, पर कर्मके भेदसे, कर्मके निमित्तसे चेतनाके तीन भेद होते हैं—इस ३ प्रकारकी चेतनामें सामान्यतया यह समझ लीजिए कि कर्मचेतना और कर्मफलचेतना मिथ्यादृष्टियोंके होती है। ज्ञानचेतना सम्यग्दृष्टियोंके होती है। प्रतीति देखिये—भीतरमें क्या भाव भरा है? यदि परिवार रुच रहा हो तो समझिये कि हमारा भविष्य बहुत खराब है। यदि धन वैभव ही आपको देवता लग रहे हों तो समझिये कि हमारा होनहार खराब है। अपने आपके स्वरूपकी सुध ही नहीं है। आप कहां जायेंगे, क्या होगा इसका फल? किसी भी बाह्य पदार्थसे मोह ममत्व रखनेका क्या परिणाम होगा? यही ६ प्रकारके कायोंको धारण कर-करके संसारमें दुःखी रहना पड़ेगा। अनन्त काल तो बिता दिया, अनंत भव बिता दिया, एक इस भवको ऐसा ही मान लो कि मानो मैं पैदा ही नहीं हूं लोगोंकी दृष्टिमें, मैं कुछ भी नहीं हूं। मैं यदि यहाँ न होता तो लोग क्या मुझे समझते? और स्वरूपदृष्टिसे देखो तो मुझ चेतनको तो कोई समझने वाला है ही नहीं। जिसे कोई कुछ मानता है, समझता है वह तो जड़ है, मिट जाने वाला है, जला दिया जायगा। इस भवमूर्तिको देखकर ही तो लोग व्यवहार करते हैं। अपने स्वरूपकी सुध लो और संसार-संकटोंसे पार हो जावो। जो कला, जो विवेक, जो बुद्धिमानी तीर्थंकरोंने की, बड़े पुरुषोंने की उस कलाको कर लीजिए, और मोहियों जैसी कलामें तो विडम्बना ही हाथ लगेगी। इस कारण अपनी सुध लीजिए।

ननु चिन्मात्र एवास्ति जीवः सर्वोपि सर्वथा।
किं तदाद्या गुणाश्चान्ये सन्ति तत्रापि केचना ॥९४३॥

आत्माके चिन्मात्र एकरूपत्व अथवा अनेकत्वके विषयमें एक जिज्ञासा—अब इस प्रसंगमें शंकाकार अपनी जिज्ञासा रख रहा है कि लोकके समस्त जीव क्या सर्वथा एक चैतन्यमात्र ही हैं या उनमें एक अन्य गुण भी होता है अर्थात् जीव क्या एक स्वरूप ही है अथवा अनेकरूप है? इस प्रकार दो विकल्पोंमें यह शंकाकार शंका कर रहा है। ऐसी शंका क्यों उठी? ठीक है जिसे उठी वह कोई दार्शनिक ही हो सकता है। नयवादके अनुसार जीव

http://www.jainkosh.org

के स्वरूपका वर्णन सुन-सुनकर जब कभी किसीको किसी नयका ज्यादा व्यामोह हो गया तो उसे कभी यह लगने लगता है कि ओह ! जीव एक ही है, चेतना मात्र ही है। उसमें अन्य कुछ है ही नहीं। और जब विशेषवादी नयके द्वारा कथन सुना जाता है तब वहाँ यह लगता हैं कि इसमें तो अनेक गुण हैं और गुण ही क्या ? इसमें क्रियायें भी भरी हुई हैं, अनेक तत्त्व दिखते हैं। ऐसी स्थितिमें यह शंका होना प्राकृतिक है कि जीव क्या अखण्ड अद्वैत चेतनामात्र है अथवा उस जीवमें अनेक गुण भी पाये जाते हैं ? शंका करनेका उसे अवसर मिल गया कि अभी मैंने यह सुना था कि चेतना तो एक अद्वैतमात्र है, पर कर्मके निमित्तसे २ भेद हो गए। जहाँ अद्वैतपनेकी बात सुनें तो अद्वैतमें उसका चित्त और आगे बढ़ा तो और जिज्ञासा हुई—तो क्या इसमें अनेक गुण हैं ? क्या इसमें अनेक स्थितियाँ हैं ? इस तरह शंकाकार दो विकल्पोंमें अपनी जिज्ञासा रख रहा है कि समस्त जीव क्या चेतना मात्र हैं अथवा चेतना आदिक अन्य गुण भी हैं ? इस शंकाके समाधानमें कहते हैं—

उच्यतेनन्तधर्माधिरूढोप्येकः संचेतनः ।
अर्थजातं यतो यावत्स्यादनन्तगुणात्मकम् ॥६४४॥

अनन्तधर्मोंसे अधिरूढ़ होनेपर भी जीवकी एकरूपता—यह संचेतन, जीव, आत्मा, ब्रह्म अनन्त धर्मोंसे अधिष्ठित है, फिर भी यह एक है। इसके उत्तरमें निश्चयनय और व्यवहारनयकी झाँकी लेते जाइये—जहाँ चेतनेको एक कहा जा रहा हो, मात्र चित्स्वरूप कहा जा रहा हो वह है निश्चयनयकी झाँकी और जहां अनन्त धर्मोंसे अधिरूढ़ पाया जा रहा हो, अनन्त गुणात्मक कहा जा रहा हो वहां है व्यवहारनयकी झाँकी। यह जीव अनन्त धर्मोंसे अधिरूढ़ है। रूढ़ और अधिरूढ़। रूढ़िमें जैसे कोई बात प्रसिद्ध हो जाती है, प्रसिद्ध हुई, मगर यों अटपट नहीं, वहां जैसी बात पायी जा रही है उन गुणोंसे हम जीवकी पहिचान कर सकते हैं, इसलिए यह अधिरूढ़ है। जैसे यहां जीवके सम्बंधमें प्रश्न किया गया है कि यह जीव क्या एक अद्वैत चैतन्यमात्र है या इसमें अनन्त गुण हैं ? ऐसा ही प्रश्न सभी पदार्थोंके विषयमें किया जा सकता है। और उसका उत्तर जैसा जीवमें घटित होता है, ऐसा सभी पदार्थोंमें घटित होता है। प्रत्येक पदार्थ अपने असाधारण स्वभावकी दृष्टिसे एकरूप है, फिर भी उस ही स्वभावके अन्तर्गत, उस ही स्वभावको स्पष्ट करनेके लिए उचित विधिके अनुसार उसमें अनंत गुणभेद होते हैं, तो यह निर्णय हुआ कि पदार्थ अनेक गुणात्मक होते हुए भी एक है। एक तो स्पष्ट है, क्योंकि यदि एक है, सत्त्व एक है, वह एकरूप है, है और प्रत्येक पदार्थ निरन्तर परिणमता रहता है, परिणमन भी प्रति समयका एक है। पर वह एक किस प्रकार है, उसे हम कैसे समझें ? उसको समझनेके लिए हमें आचार्योंने एक गुणका उपहार किया। उसके द्वारा समझ लो—गुण कहते किसे हैं ? 'गुण्यते परिच्छद्यते द्रव्यं यैस्ते गुणाः' अर्थात् जिनसे

Version 1

पदार्थ जाना जाय उन्हें गुण कहते हैं। इस व्युत्पत्तिके अनुसार गुणका अर्थ है—आत्माकी ऐसी शक्तियाँ कि जिनकी समझसे हम द्रव्यकी पहिचान करते हैं अथवा दूसरी व्युत्पत्तिसे हम द्रव्यकी पहिचान करते हैं। दूसरी व्युत्पत्तिसे देखिये—'गुण्यते भिद्यते द्रव्यं यैस्ते गुणाः।' जिसके द्वारा द्रव्यका भेद किया जाय उसे गुण कहते हैं, लेकिन इसमें यह झांकी आयी कि प्रत्येक द्रव्य स्वरसतः एकस्वरूप है। उनमें जो गुण समझे जाते हैं उन गुणोंसे द्रव्यका परिच्छेदन हुआ और भेदन हुआ, और प्रत्येक पदार्थ अनन्त गुणात्मक होकर वस्तुतः एक है। जीवद्रव्य अनन्त गुणोंका अखण्ड पिण्ड है।

स्याद्वादके सही प्रयोग द्वारा ही वस्तुस्वरूपके यथार्थ अवगमकी शक्यता—देखो वस्तुस्वरूपके समझनेके लिए जब आप चलेंगे तो जो उपायकी गली है वह बहुत संकरी है। अपने आपको बहुत सम्हलकर, केन्द्रित होकर उस गलीसे चलाना होगा। स्वच्छन्द होकर अटपट कदम उठाकर यदि चलेंगे तो उस रास्तेसे भी गिर गए और वस्तुस्वरूप तक पहुंचना कठिन है। पदार्थमें अनन्त गुण तो हैं, लेकिन उन अनन्त गुणोंको यों ही वस्तुत: मान लें तो वे सभी गुण एक-एक पदार्थ कहलाने लगेंगे और ऐसा जिसने कदम उठाया है उन दार्शनिकोंकी यह तो स्पष्ट घोषणा है। पदार्थ कितने होते हैं ? जातिकी अपेक्षा उन भेदवादियोंके पदार्थ ७ होते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव, उनका यह सिद्धान्त है कि दिमागमें जंचना चाहिए कि जो यह है सो यह नहीं है। इससे यह भिन्न है, जुदा है, स्वरूप निराला है। लो, उनकी स्वतंत्र सत्ता वाला या सत्ताके समवाय वाला पदार्थ बन गया। जैसे यह समझमें आया कि जीवमें ज्ञान है, जीवमें दर्शन भी है, चारित्र भी है और देखो—जो ज्ञानका स्वरूप है सो दर्शनका नहीं, जो दर्शनका स्वरूप है सो चारित्रका नहीं। ये तो बिल्कुल भिन्न-भिन्न बातें हैं। इस भिन्नतापर बढ़नेका फल क्या हो गया कि जैसे जीव एक पदार्थ हैं वैसे ही ज्ञान, दर्शन चारित्र आदिक भी एक पदार्थ हैं, और ऐसा विशेषवादने माना है। तो बहुत सम्हलकर चलना है वस्तुप्रतिबोध मन्दिरके लिये वस्तुमें अनन्त गुण नहीं हैं, किन्तु वस्तु अनन्त गुणात्मक है। व्यवहारके लिए कुछ भी कह लो—वह समझनेके लिए है। जैसे किसीके सिरदर्द हो रहा और उससे कोई पूछ बैठे कि भाई आपको क्या कुछ दर्द है ? तो उसे तो बड़ा लम्बा बोलना पड़ेगा, क्योंकि वह जानता है कि सिर तो मेरा है नहीं, मैं तो एक चेतन हूं, यह सिर तो एक जड़ पदार्थ है। अब इसका दर्द बताना है तो वह कितना लम्बा बोलेगा ? असमानतातीय दो द्रव्योंके मेलसे बना हुआ तो एक मायामय पर्याय है, उसमें जो एक सिर है, उसमें कितने ही नसाजाल होते हैं, उनमें परिस्पन्दन हो रहा है। सुध ही उसे कहाँ रहेगी उसको इतना कहनेकी ? वह तो कहेगा कि हाँ मेरे सिरमें दर्द है। समझने वाले समझ लें, बात क्या बन रही है। यह एक व्यवहार भाषा है। इसी तरह प्रति-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

बोधके लिए बताया गया है कि वस्तुमें अनन्त गुण हैं।

गुणोंके स्वतन्त्र सत्त्वका अभाव—भैया ! गुण इस तरह स्वतंत्र नहीं हैं जैसे कि वैशेषिकोंने माना है। जब उनके दर्शनमें कुछ प्रवेश करें तब यह बात विदित होगी कि उनको सत् रूपसे न कहना चाहिए। जैसे कि आजकल ऐसी प्रथा चल गई है अध्यात्मके जोशमें कि द्रव्य सत् है, गुण सत् है, पर्याय सत् है। कहाँ वह सत् है ? सत् है तो वह एक पदार्थ है। अब उसकी भेदविवक्षामें जो जंच रहा है वह जंचनेकी बात है। सत् तो जो है सो है, उसकी बात बताओ ठीक है, और इतनेपर भी मंशा पूरी नहीं होती। उस एकान्तमें तो क्या कहा जाता कि द्रव्य स्वतंत्र सत् है। एकान्तवादके अभिनिवेशकी बात कही जा रही है। उसमें वस्तु तत्त्वका याथात्म्य नहीं जाना जा सकता। नयवादकी बात और है और एक प्रकट एकान्तसे घोषणा करना, यह बात और है। और इतने तक ही मंशा पूरी न हो तो यह भी कहना पड़ता है कि प्रत्येक समयकी पर्याय स्वतंत्र है। प्रत्येक गुण अपने आप स्वयं सत् है। किसीका किसीसे कुछ ताल्लुक नहीं। तो एकान्तवादके अभिनिवेशमें वस्तुस्वरूपका अवगम सही नहीं हो पाता, वहाँ समझ लीजिए। आगममें बताया है कि पदार्थ अनन्तगुणात्मक है और एक हैं। वहाँ कोई स्वरूप रूपसे इस तरह सत् नहीं है कि जैसे एक थैलीमें १०० पैसे डाल दिए। अब उस थैलीसे प्रत्येक पैसा स्वतंत्र सत् है, ऐसे ही आत्मा कोई थैली नहीं है कि जिसमें अनन्त गुण भरे हों वे स्वतंत्र सत् हों। आत्मा एक वस्तु है, वह एक असाधारण स्वभावके लिए हुई है। प्रतिसमयमें उसका एक परिणमन होता है। अब तीर्थप्रवृत्तिके लिए व्यवहारकी आवश्यकता है ही। उसके बिना हम उस परमार्थस्वरूपको समझ सकते नहीं। तब आत्मा अनन्तगुणात्मक है। कैसे ? आत्मा अनेकानेक है। कैसे ? आत्मा ज्ञान भी है, गुण भी है, नहीं भी है, कैसे ? अरे आनन्दका काम है आह्लाद व ज्ञानका काम है जानन। उसका काम उसीमें है। लोकव्यवहारके उपायसे बढ़ते जाइये भेदमें, परवस्तु वहाँ क्या है ? वह तो एक स्वरूप है, जिसे अनन्तगुणात्मक कहा जा रहा है। तो शंकाकारकी यह आशंका थी कि यह जीव सचेतन क्या एक अद्वैत चेतना मात्र है या उसकी आड़ लेकर अन्य अनेक गुण भी इसमें मौजूद हैं ? बताया गया कि आत्मा अनन्तगुणोंसे अधिरूढ़ है, फिर भी यहाँ गुणोंकी भेदविवक्षासे भेद किया गया और जब अभेददृष्टिसे परखेंगे तो अभेद समझा जायगा।

अनन्तधर्माधिरूढ़ होनेपर भी आत्मद्रव्यकी अद्वैतरूपता—अब इन दोनोंके समन्वय रूपसे बात क्या समझमें आनी चाहिए कि अनन्तगुणसमूह वह आत्मा है और इसी कारण द्रव्यका लक्षण यह किया गया है कि 'गुणसमुदायो द्रव्यं।' द्रव्य क्या है ? गुणसमुदाय। वह गुणसमूह क्या है ? गुणसमुदयो द्रव्यं, गुणका जो समुदय है वह द्रव्य है। गुणवद्द्रव्यं, जो गुण वाला है वह द्रव्य है। जो गुणमय है वह द्रव्य है। गुणमें द्रव्यका तादात्म्य है मायने

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

गुणमय है द्रव्य। गुण ही जिसका आत्मा है, गुण ही जिसका स्वरूप है, ऐसा यह जीव है। कहीं विशेषवादकी तरह यह न समझ लेना कि गुण अलग है, आत्मा अलग है, उन गुणोंका सम्बंध हो तो आत्मा गुणी कहलाये। जैसे लाठी अलग है, बूढ़ा अलग है, लाठीका सम्बंध हो तो यह बूढ़ा लाठी वाला है, ऐसा आत्मामें नहीं है। आत्मा गुणमय है, गुण वाला है। यह समझानेके लिए कहा है। उसका अर्थ तादात्म्य ही लेना, भिन्नताका अर्थ न लगाना, क्योंकि यदि भिन्न मान लेंगे तो क्या आपत्ति आयगी? ज्ञान भिन्न है, जीव भिन्न है तो बताओ जीव के बिना ज्ञानका स्वरूप क्या? तो ज्ञानके बिना जीवका क्या स्वरूप? आत्माका स्वरूप सिद्ध नहीं हो सकता। यदि कोई यह कहे कि भले ही ज्ञान जुदा है, जीव जुदा है, फिर भी इसका समवाय सम्बंध है और वह सम्बंध नित्य है। नित्य है तो लो जीव कभी मुक्त हो ही नहीं सकता। मुक्त तो उसे कहते हैं कि जो अपने स्वरूपके अतिरिक्त अन्य चीजोंसे निराला रह जाय तो जब जीव और ज्ञानका नित्य सम्बंध मान लिया, भिन्न-भिन्न तत्त्व मानकर भी तो लो ज्ञान कभी जीवसे अलग न होगा तो मुक्ति भी न होगी। विशेषवादी मुक्ति इसीको मानते हैं कि ज्ञानशून्य हो जाय जीव, बस यही भगवान बन गया, यही इसका मोक्ष हो गया तो यह बात भी न रही। वास्तविक बात यह है कि जीव ज्ञानस्वरूप है, पर-उपाधिके सम्बंधसे यहाँ जो तरंग रंग उठती है उससे मलिन हुआ है, संसारी बना है। पर-उपाधि न रहे, जीव अपने सहज शुद्ध ज्ञानस्वरूपमें आ जाय, विकसित हो जाय उसीके मायने मुक्ति है। तो यह निर्णय करना कि जीव ज्ञानस्वरूप है, अद्वैत चेतनारूप है और ऐसा ही इसका व्यक्त स्वरूप बन जाय, इसीको कहते हैं मुक्ति। इस चेतनाके यहाँ ३ भेद जो बताये जा रहे हैं तो जब स्वरूपतः देखते हैं तब तो वह एक रूप है और जब पर्यायतः देखते हैं तो ३ रूप हैं—ज्ञान-चेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना। इस तरह इस छंदमें शङ्काकारकी शङ्काका समाधान देते हुए यह निर्णय दिया है कि यह जीव अनन्तगुणात्मक होकर भी एक स्वरूप है। इसी विषयको स्पष्ट करनेके लिए आगेका श्लोक कहेंगे।

अभिज्ञानं च तत्रापि ज्ञातव्यं तत्परीक्षकैः।
वक्ष्यमाणमपि साध्यं युक्तिस्वानुभवागमात् ॥६४५॥

प्रत्येक जीवके अद्वैत होनेपर भी एकस्वरूप होनेका सप्रमाण निर्णय—कल यह बताया गया था कि जीव अनन्तगुणात्मक है, इसका विशेष परिज्ञान युक्तिसे करें, स्वानुभवसे करें, आगमसे करें। भली प्रकार परीक्षा करके चित्तमें उतरा हुआ ज्ञान स्पष्ट होता है और एक कहने मात्रसे मान ले कोई तो उसके दृढ़ता नहीं होती। तब ही तो समयसारकी भूमिकामें कुन्दकुन्दाचार्यने कहा है कि मैं उस एकत्वविभक्त आत्माको दिखाऊँगा जो एकत्वविभक्त आत्मा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

लोकमें सुन्दर है, कल्याणकारी है, जिसके जाने बिना संसारकी सारी विडम्बनायें हैं, ऐसे जीव के सहजस्वरूपको बतावेंगे, सो यदि मैं दिखा दूँ, समझा दूं तो उसे परीक्षा करके प्रमाण मान लेना और यदि चूक जाऊँ तो दोष ग्रहण न करना। इसमें दो बातें खास ध्यान देनेकी हैं। आचार्यदेव यह कहते हैं कि यदि मैं बता दूं तो उसकी परीक्षा करके तो प्रमाण करना, प्रमाण की कसौटी पर सही उतरे तो उसे मान लेना। और बात भी सही है—जो ढंगसे मानता है कुछ तो वह ढंगसे प्रमाण करके अपने मनमें आये तब ही मानता है। कौन किसकी मानता है ? झगड़ा तो यही है संसारमें। घर-घरमें कलह इन्हीं बातोंका है। घरके लोग चाहते कि हमने कहा है, इसलिए यह ऐसा मान ले, पर वस्तुस्वरूप यह कहता है कि उसके चित्तमें उतरे तब ही तो वह मान सकेगा। तो जो घरमें अपनेको बड़ासा समझता है, मनोज्ञ, लाड़ला सा समझता है वह इस बातसे ऊब जाता है मैंने कहा और दूसरेने न माना। अरे जरा वस्तु-स्वरूपको तो देखो—दूसरा कोई तुम्हारा कहना कभी मान ही नहीं सकता। आप कहेंगे कि कभी-कभी ऐसी घटनायें होती हैं कि वह जानता है कि ये झूठ कह रहे, सही नहीं कहते हैं या मनमें इच्छा नहीं है कि इसकी बात मान लें और फिर भी मानता है। तो वहाँ भी वास्तवमें एक कुछ मंशा है, इच्छा है जिसके कारण वह मानता है। दूसरेकी बात दूसरा कोई मान ही नहीं सकता। खुदकी शान्तिके लिए, खुदकी सुखपूर्तिके लिए बातको समझा हो तो मान लेगा, अन्यथा कौन मान जायगा ? तो भाई पहिली बातमें तो यह बताया कि तुम परीक्षा करके प्रमाण कर लो और फिर यह बतला रहे हैं आचार्य कुन्दकुन्द महाराज कि मैं चूक जाऊँ तो छल ग्रहण न करना, दोष ग्रहण न करना। इसमें बड़ेका बड़प्पन दिख रहा है। चूकेगा वह श्रोता, अज्ञानी, मूढ़ और लघुताकी बात कह रहे हैं खुद आचार्यदेव। जैसे कोई-कोई समझदार आदमी त्यागी विद्वान या कोई भी यों कहते हैं कि हमारी बात तुम्हारी समझमें ही नहीं आयी, तुम्हारे दिमागमें बात उतरी कि नहीं ? अरे तुम्हारे दिमागमें क्या गोबर ही भरा है ? चलते जावो—धीरे-धीरे असभ्यतामें बहुतसे लोग यों अपमान करनेको तैयार रहते हैं, परन्तु जो पुरुष सज्जन हैं वे इन शब्दोंमें कहते कि भाई मैं आपको समझा नहीं सका। तो बड़ेका बड़प्पन देखिये—आचार्य महाराज कहते हैं कि यदि मैं चूक जाऊँ तो छल ग्रहण न करना। छल ग्रहण करनेकी बात क्या है ? यह विश्वास करके जाना कि आत्मा कुछ नहीं है, केवल कहनेकी बात है। ऐसा छल ग्रहण न करना। न समझमें आये न सही, मगर चित्तमें उत्कंठा बनाये रहना कि मुझे जानना है आत्माको।

युक्ति, स्वानुभव और आगमसे जीवकी अनन्तधर्माधिरूढ़ताका विवेचन—युक्तियोंसे जिसकी परीक्षा हो जाती है उसका ज्ञान प्रमाणभूत होता है। तो आत्मामें अनन्त गुण हैं। आत्मा अनन्तगुणात्मक है, इसकी परीक्षा भी करें युक्तिसे, स्वानुभवसे, आगमसे। युक्तिसे तो

Version 1

यों परीक्षा होती है कि देखो आत्मामें ज्ञानगुण अवश्य है, अन्यथा यह जाननेका काम कैसे बनता ? कार्यको देखकर कारणका अनुमान किया है। धुवेंको देखकर अग्निका अनुमान किया जाता है। कोठेमें आग जल रही है, क्योंकि धुवां निकल रहा है। तो ज्ञानगुणका कार्य है यह जानना समझना। यदि ज्ञानशक्ति न होती मुझमें यह जाननेका काम कैसे बनता ? और जानने का काम समझनेके लिए और कोई युक्ति नहीं दिखती, वह तो सबकी समझमें है। जान रहे सब कुछ, सबको ही जान रहे। इसमें श्रद्धा गुण भी है। देखो—तब ही तो लोग कहीं न कहीं अपने चित्तमें विश्वास बनाये हुए हैं। कोई धनमें विश्वास जमाये है, खूब धनी बन लें इसमें बड़ा आराम है। कोई परिवारमें विश्वास जमाये है, कोई स्त्रीमें विश्वास जमाये है, कोई धर्ममें विश्वास जमाये है, कोई आत्मदृष्टिमें विश्वास किए है। विश्वास किए बिना कोई जीव रहता नहीं। किसीको विषयसुखमें विश्वास है तो किसीको अविकार ज्ञानस्वभावमें विश्वास है। यदि श्रद्धागुण न होता तो यह विश्वास करनेका काम कैसे बने ? इससे चारित्र-गुण भी है जीवमें। न होता चारित्रगुण तो रमनेका काम कैसे बनता ? सभी जीव कहीं न कहीं रम रहे हैं। कोई मोहमें रम रहा, कोई रागमें, कोई विरोधमें, कोई ज्ञानमें रम रहा, पर रमनेकी प्रकृति जीवमें पायी जा रही है तो इसकी कोई शक्ति तो है जीवमें तो युक्तियोंसे भी गुणकी परीक्षा होती है। स्वानुभवसे भी परीक्षा होती है। इन्द्रियका व्यापार बन्द करो। देखना, ताकना, भूकना सब समाप्त करो और एक विशुद्ध आत्माके उपयोगमें स्थित हो जाओ। अनुभूति बता देगी कि यह मैं ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदिका पुञ्ज हूं। अनुभूतिके कालमें भेद तो न आयगा, पर अनुभृति हो जानेपर समझ सब आ जायगी। तो युक्तिसे, स्वानुभवसे आत्मगुणोंकी परीक्षा करो। आगमसे भी देखिये—आगममें जीवके सामान्य गुण और विशेष-गुणका वर्णन है जिसे कि अब बतलाया जा रहा है।

तद्यथापथं जीवस्य चारित्रं दर्शनं सुखम्।
ज्ञानं सम्यक्त्वमित्येते स्युर्विशेषगुणाः स्फुटम् ॥९४६॥

जीवके असाधारण गुणोंकी चर्चा—जीवके विशेष गुण हैं चारित्र, दर्शन, आनन्द, ज्ञान, सम्यक्त्व। विशेष गुण कहो या असाधारण गुण कहो, दोनोंका एक ही भाव है। जो गुण लक्षित द्रव्यमें ही पाये जायें, अन्य द्रव्यमें किसीमें भी न पाये जायें उसे असाधारण गुण कहते हैं। जिन गुणोंका यहाँ नाम लिया गया है वे जीवमें ही पाये जाते हैं, जीवके सिवाय अन्य किसी पदार्थमें पाये ही नहीं जाते। इस कारण ये असाधारण गुण कहलाते हैं। गुण नाम है शक्तिका। जीवमें हमेशा रहने वाली शक्ति है यह। चाहे कोई निगोदमें हो, अन्य गतियोंमें हो अथवा सिद्ध हो, प्रभु हो, सबमें ये शक्तियां पायी जा रही हैं। आज ज्ञानशक्ति का परिणमन हो रहा है कुमति, कुश्रुतरूप, किन्तु जब सम्यक्त्व जगेगा और कुज्ञान हटेगा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

ओर चारित्रोपयोगसे अपने ज्ञानस्वरूपमें रमरण किए जानेके बलसे जो विशुद्धि जागृत होगी उसमें कर्मका क्षय होगा, केवलज्ञान प्रकट होगा, तो वह केवलज्ञान भी इस ही ज्ञानशक्तिका उपादान करके प्रकट हुआ है। कहीं प्रभुमें नई चीज नहीं आ गई। जो बात आत्मामें है वही बात व्यक्त हो गई। प्रभुता पानेके लिए कोई बाह्यसाधन नहीं जुटाने पड़ते, किसी बाह्यपदार्थ से परमात्मतत्त्व खींच लिया जाय, ऐसे नहीं आता परमात्मतत्त्व, बल्कि जो ऐब, कलंक मल लगे हैं उनको हटानेकी आवश्यकता है, कुछ लगानेकी आवश्यकता नहीं है। विषयकषायके परिणाम हटें तो ज्ञान पूर्ण विकसित हो जायगा। जो है सो प्रकट हो जायगा।

आत्माके ज्ञानादि विशेष गुणोंकी चर्चा—देखो तो अनादिकालसे यह गुण सहजज्ञान स्वरूप, जिसे कह लीजिए सहज अनन्त ज्ञानस्वरूप कैसा दबा हुआ पड़ा है? विषय कषाय रागद्वेषभावके कारण। आज कितनी दयनीय दशा है? मोहका लेश भी सम्बन्ध हो तो वह दुःखका ही कारण है। इस मोहसे ही दुःखी होते जाते और उस दुःखके मिटानेका उपाय मोह करना ही समझते। यदि इस मोहको हटानेका उपाय करें तो दुःख हमेशा को मिट जायगा। लेकिन ऐसी बात अगर बन जाय तो उसका नाम मोह कैसे रहेगा? जैसे कोई कहता ना कि देखो मैं ऐसा न कर दूं तो मेरा नाम पलट देना, इसी तरह मोह यह कह रहा है कि मैं इस जगतके जीवोंको यों बरबाद न रखूं तो मेरा नाम पलट देना। मोहमें कहाँ यह बात सूझेगी कि मेरेको दुःख इस मोहसे हुआ है? यह मोह क्रूर पिशाच है, इससे छुटकारा पानेके लिये ज्ञानबल बढ़ाओ और इस मोहको तिलाञ्जलि दे दो। रागमें तो यह बात सूझ जायगी कि इस रागसे मुझे दुःख हुआ है, इसलिए इस रागको मिटाना चाहिए पर मोह में रहकर यह बात नहीं सूझती। अतः मोहका विनाश कर सुखका उपाय बनाओ, मोहमें उपाय न बनेगा। यहाँ आत्माके विशेषगुण बताये जा रहे हैं, जो आत्मामें ही पाये जाते अन्य में नहीं पाये जाते। ज्ञानचेतना जीवको छोड़कर अन्यमें कहाँ पायी जाती है? जापानमें लोग अब बच्चोंके बराबरके डेढ़-डेढ़ दो-दो हाथके ऊँचे खिलौने बनाने लगे हैं। उन्हें कुछ दूरसे देखनेमें ऐसा लगता है कि मानो वे सच सच बच्चे ही हैं, पर उनके पास जाकर देखो तो वे ज्योंके त्यों काठ पत्थर जैसे रखे रहते हैं। उनमें बोलने समझने आदिकी कुछ बात नहीं हो रही। तो कैसा ही कुछ बना ले कोई पुद्गलको, मगर ज्ञान क्या उसमें आ जायगा? ज्ञान तो जीवका असाधारण गुण है वह कैसे आ सकेगा? चारित्र किसी ओर रम जाना यह बात जीवमें ही पायी जा सकती है। दर्शन—अपना भी प्रतिभास रहना यह गुण जीवमें ही पाया जा सकता। आनन्द, आल्हाद होना यह भी जीवमें ही है और सम्यक्त्व भी जीवमें ही है। ये जीवके विशेष गुण कहे गए हैं युक्तिसे भी समझ लो, स्वानुभवसे भी जान लो, आगमसे भी जान लो।

http://sahjanandvarnishastra.org/

वीर्यं सूक्ष्मोवगाहः स्यादव्य बाधश्चिदात्मकः ।
स्यादगुरुलघुसंज्ञं च स्युः सामान्यगुणा इमे ॥६४७॥

जीवके सामान्य गुणोंका निर्देशन—जीवके विशेष गुणोंका निर्देश करके इस श्लोकमें जीवके सामान्य गुणोंका दिग्दर्शन कराया है । सामान्यगुण किसे कहते हैं ? साधारण गुण—जो गुण समस्त द्रव्योंमें पाये जायें ऐसे गुणोंको साधारण गुण कहते हैं । जैसे—अस्तित्व वस्तुत्व आदिक ये साधारण गुण क्यों कहलाते ? यों कि ये सबमें समान हैं । वहाँ भी यह न जानना कि जीवका वस्तुत्व पुद्गलमें पहुंचा या वस्तुत्व आदिक नामक गुण कोई एक है, सर्वव्यापी है, ऐसा नहीं है । प्रत्येक पदार्थ निराले हैं उनमें जो बात समान रूपसे पायी जाय, सबमें घटित हो उसे साधारण गुण कहते हैं । ऐसा नहीं है कि अस्तित्व एक गुण है और उसके सम्बन्धसे सब पदार्थ अस्तित्व वाले कहलाये । पदार्थ जितने हैं वे सब अपने-अपने गुणोंमें हैं, अस्तित्व वस्तुत्व आदिक गुण भी खुदके खुदमें हैं, दूसरेमें नहीं, लेकिन जैसे इसमें हैं तैसे ही और में हैं, सबमें हैं, उसकी इस समानताके कारण इन्हें साधारण गुण कहा है । तो वीर्य, सूक्ष्म अव्याबाध और अगुरुलघु ये जीवके सामान्य गुण हैं, अस्तित्व आदिक भी हैं और ये भी गुण ऐसे हैं कि जो सबमें देखिये । कोई भी द्रव्य मोटा नहीं है, जो स्कंध दिखते हैं ये द्रव्य नहीं हैं, यह तो अनन्त परमाणुओंका समूह है । किसी भी द्रव्यसे किसी द्रव्यको बाधा नहीं आती । इन गुणोंकी साधारणतापर विचार किया जा रहा है । एक अणुसे दूसरे अणुमें बाधा नहीं पहुंचती और तब ही तो परस्पर उनका अवगाह है । पर्यायकी बात नहीं कह रहे, स्कंधरूप पर्यायमें होनेपर तो एकसे दूसरेको बाधा है । मगर अणुको अणुसे कोई बाधा नहीं है । किसी द्रव्यसे किसी दूसरे द्रव्यको कोई बाधा नहीं है । तो लो यह भी साधारण गुण हो गया । शक्ति सबमें है । तभी तो सब पदार्थ अपने अनुरूप अपना कार्य करते रहते हैं । सब पदार्थोंमें वीर्यकी बात आयी । सब पदार्थ अपने स्वरूपसे अगुरुलघु हैं । इतना ही है, न वे हल्के होते, न बड़े होते । कुछ शंका हो सकेगी तो पुद्गलमें, तो पुद्गलकी बात समझ लीजिए कि अणुमें गुरु लघु स्पर्श ही नहीं है । उसका अगुरुलघु तो स्पष्ट ही जंच रहा है । ऐसे ही सभी गुण जो इस श्लोकमें बताये जा रहे हैं सामान्य गुण हैं—जो सामान्य रीतिसे सबमें पाये जायें । इस तरह जान लें कि जीवमें अनेक तो सामान्य गुण हैं और अनेक विशेष गुण हैं । तब उन सब सामान्य विशेष गुणोंको समझकर निर्णय करना कि—

सामान्याः वा विशेषाः वा गुणाः सिद्धाः निसर्गतः ।
टंकोत्कीर्णा इवाजस्रं तिष्ठन्ति प्राकृताः स्वतः ॥६४८॥

सामान्य एवं विशेष गुणोंकी निसर्गसिद्धता—जीवके सामान्य गुण हों अथवा विशेष गुण हों, सभी गुण स्वभावतः सिद्ध हैं अर्थात् किसी अन्यके द्वारा निष्पन्न नहीं किये गये ।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

जीवमें रहने वाली शक्तियोंको किसने बनाया ? जीव चूंकि सत् है, इसलिए स्वयं ही अपने आप गुणपर्यायमय है। द्रव्य कहते हैं उसे जो गुण पर्यायवान हो। कैसे प्रचलित हो गया कि इन सबका बनाने वाला कोई एक ईश्वर है। अरे ईश्वरकी उपासना तो करनी चाहिये थी अनन्तज्ञान और अनन्त आनन्द, अनन्तज्योतिस्वरूपमें। जिसके स्वरूपकी उपासना करके यहाँ भी स्वभावदृष्टि पहुंचती और संसारके संकट मिटते हैं। लेकिन क्या किया जाय ? ज्ञान द्वारा वस्तुस्वरूपका निर्णय करना जिसे बोझ लगा, कठिन लगा तो सीधा उपाय यह जंचा कि वह ईश्वरने किया, ईश्वरकी लीला है। कोई भी विज्ञानवादी पुरुष जिसके ज्ञान विज्ञानमें रुचि है, उत्साह है वह तो माननेको तैयार न होगा। अरे पदार्थ सभी सामान्यविशेषात्मक हैं और उनमें स्वभावतः यह कला है कि वे निरन्तर उत्पाद व्यय कर रहे हैं। लो सारी व्यवस्था सही बन रही है। उस कल्पित ईश्वरको यदि अनन्त पदार्थोंमें से किसी एकको भूल हो जाय तो ऐसा न होगा कि वह पदार्थ परिणमे बिना बैठा रहेगा और कहो कि यह यों नहीं परिणम रहा कि ईश्वरकी उसपर दृष्टि नहीं पहुंची। जरा सोचो तो सही कि कोई पदार्थ परिणमन न कर रहा हो तो पदार्थ क्या, सत् क्या ? प्रत्येक पदार्थ अपने निसर्गसे ही प्रतिक्षण परिणमते रहते हैं। ऐसे सभी गुण जीवमें निसर्गसे सिद्ध हैं और वह टाँकीसे उकेरी गई पत्थर की मूर्तिके समान निश्चल हैं। जैसे पत्थरकी मूर्ति निश्चल है, निरन्तर है, ऐसे ही ये समस्त गुण निश्चल हैं। जीवसे हटाये हटते थोड़े ही हैं। भला कर्मोंका इतना अधिक आक्रमण कि निगोद दशाको तो देखिये ऐसा लगता है कि जीव ही कहाँ रहा ? यह तो सारी जान निकल गयी। अक्षरका अनन्तवाँ भाग ज्ञान श्वासके १८वें भागमें जन्ममरण, एक शरीरके आश्रय अनन्त जीवोंका रहना, भला भगवान आत्माकी कोई यह दशा है क्या ? लगता है ऐसा कि यह तो कुछ भी नहीं रहा। लेकिन क्या न रहा ? जितने अनन्त गुण हैं, जितने सहज गुण हैं, सभीके सभी निगोद जीवमें ही हैं, निश्चल हैं, अन्यथा मनुष्य होनेपर वे गुण आ कहाँसे गए और प्रभु होनेपर वे गुण कहाँसे पूर्ण विकसित हो गए ? तो जीवके ये सभी गुण निसर्गसिद्ध हैं, स्वयंसिद्ध हैं, अनादिनिधन हैं। यहाँ प्रकरणमें यह बात कही जा रही थी कि जीव अनन्तगुणात्मक होकर भी एक है और वह एक है चेतनास्वरूप और उस चेतनाके कर्म के निमित्तसे तीन भेद बने—ज्ञानचेतना, कर्मचेतना, कर्मफलचेतना। उसमें से ज्ञानचेतना सम्यग्दृष्टिके होती है। कर्मचेतना कर्मफलचेतना मिथ्यादृष्टिके होती है। उस ज्ञानचेतनाका घात रागसे नहीं होता। जब दर्शनमोह ही पनप उठे तो सम्यक्त्व मिटेगा, ज्ञानचेतना मिट जायगी, पर ज्ञानी पुरुषके जो कोई राग शेष है उस रागमें इतनी सामर्थ्य नहीं है कि उसके सम्यक्त्व का विघात कर दे। तो यों सम्यक्त्व जैसे संक्रमणरहित है, ज्ञानचेतना भी संक्रमणरहित है लब्धि रूपमें है, पर ज्ञानचेतनाका विषय बस ज्ञान ही है, स्वयं सहज स्वभाव ही है।

इन तथ्योंके विवेचन करनेके प्रसंगमें ये सब बातें बतायी जा रही हैं कि जीव किस-किस अनन्त गुणस्वरूप हैं और फिर भी एकस्वरूप हैं।

तथापि प्रोच्यते किञ्चिच्छ्रूयतामवधानतः।
न्यायबलात्समायातः प्रवाहः केन वार्यते ॥९४९॥

गुणोंका कुछ वर्णन किये जानेका संकल्प—उक्त श्लोकमें बताया गया था कि जीवमें अनेक सामान्य गुण हैं और अनेक विशेषगुण हैं। देखिये—सामान्य गुणोंके बिना विशेष गुण रह नहीं सकते और विशेष गुणोंके बिना सामान्य गुण नहीं रह सकते हैं। जैसे आत्मामें अस्तित्व वस्तुत्व ही न हो तो ज्ञानगुण काहेपर रहे? सत्ता ही नहीं है। है ही नहीं स्वरूप-चतुष्टय। तो ज्ञानका क्या मतलब? और आत्मामें ज्ञानादिक जैसे असाधारण गुण न हों तो फिर सत्ता किसकी? तो सामान्य और विशेष ये दोनों परस्पर अविनाभावी हैं। सामान्यगुण के बिना विशेषगुण नहीं रह सकता और विशेषगुणके बिना सामान्यगुण नहीं रह सकता। ऐसे अनेक सामान्यगुण हैं और अनेक विशेष गुण हैं। उन गुणोंका थोड़ासा विवेचन किया जा रहा है। तो ग्रन्थकार कहते हैं कि उसे बहुत सावधानीसे सुनो—गुण सब पदार्थोंमें स्वयं-सिद्ध हैं और उनका प्रवाह न्यायबलसे चला आ रहा है अर्थात् अनादिसे गुणद्रव्योंमें हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे। इस तरह भी प्रवाह चला आ रहा है और उन समस्त गुणोंका परि-णमन भी निरन्तर है। इस तरह भी प्रवाह चला आ रहा है तो न्यायबलसे आया हुआ प्रवाह किसके द्वारा रोका जा सकता है? अर्थात् जीवद्रव्यमें अनेक सामान्यगुण, अनेक विशेष गुण हैं, इसे कोई मना कर ही नहीं सकता। इन सामान्य और विशेष गुणोंके सम्बंधमें पहिले अनेक स्थलोंपर बहुत-बहुत वर्णन आया था। अब प्रकरण यहाँ यह है कि जीवमें राग-द्वेषादिक भाव होते हैं और किन्हीं सम्यग्दृष्टियोंके सम्यक्त्वके रहते हुए भी रागद्वेष भाव रहते हैं तो इसका निदान यहाँ दिया जा रहा है। तो उस निदानका सम्बंध है वैभाविक शक्तियों से। उन शक्तियोंका वैभाविक शक्तियोंके विषयमें वर्णन किया जा रहा है।

अस्ति वैभाविकी शक्तिः स्वतस्तेषु गुणेषु च।
जन्तोः संसृत्यवस्थायां वैकृतास्ति स्वहेतुतः ॥९५०॥

वैभाविकी शक्तिका परिचय—उन समस्त गुणोंमें वैभाविकी नामकी शक्ति भी है। कैसे जाना? तब यह कहा जा रहा है कि ६ प्रकारके द्रव्योंमें धर्म, अधर्म, आकाश और काल-द्रव्य ये त्रिकाल कभी भी विभावरूप परिणम नहीं सकते और उन ६ द्रव्योंमें जीव और पुद्-गल दो द्रव्य ऐसे हैं कि ये विभावरूप परिणम जाते हैं। जीवमें रागद्वेषादिक भाव उत्पन्न होना, सुख दुःख आदि विकल्प अनेक होना, ये [विभाव कहे जा रहे हैं और पुद्गलमें स्कंध बन जाना, अनेक उनके रस गुण गंध आदिक बदलते रहना तो ये विभाव जीव और पुद्गलमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

पाये जा रहे हैं और धर्म, अधर्म, आकाश, काल—इन चार द्रव्योंमें नहीं पाये जाते। इसका कारण कोई पूछ बैठे तो यह ही तो कहना पड़ेगा कि जीव और पुद्गलमें ऐसी योग्यता है, शक्ति है कि वे विभावरूप परिणाम सकते हैं, पर धर्म, अधर्म, आकाश, कालमें विभावरूप परिणमनेकी शक्ति नहीं है। इसका सीधा अर्थ यह ही तो हुआ कि जीव और पुद्गलमें वैभाविकी शक्ति है, शेष चार द्रव्योंमें नहीं है। तो जीवमें जो अनेक गुण पाये गए उन गुणोंमें एक स्वतःसिद्ध वैभाविकी नामकी शक्ति है। वैभाविकी शक्तिका परिणमन क्या होता है? संसार अवस्थामें तो उसका विकृत परिणमन है और मुक्त अवस्थामें उसका स्वाभाविक परिणमन है। थोड़ा ऐसा मानना बन सकता होगा इस प्रसंगमें कि वैभाविकी शक्तिका विकार-परिणमन तो जो कुछ वैभाविकी शक्तिसे उल्टा हो सो होना चाहिए याने विभावरूप परिणमनेकी शक्तिका उल्टा परिणमन विकार कहलाये और वैभाविकी शक्तिका नामके अनुरूप याने विभाव होना, यह कहलाये स्वभावपरिणमन, लेकिन शक्तिका स्वरूप समझ लो तो संदेह मिट जावेगा। यहाँ यह बताया जा रहा, संसार अवस्थामें जो रागद्वेष, सुख दुःख, विचार विकल्प आदिक होते रहते हैं वे हैं वैभाविकी शक्तिके विकारपरिणमन और मुक्त अवस्थामें है वैभाविकी शक्तिका स्वभावपरिणमन। इस बातको इस तरह समझिये कि जितनी भी शक्तियाँ मानी जाती हैं वे सब शुद्ध हुआ करती हैं, जीवके स्वभावरूप हुआ करती हैं, याने जीवकी स्वाभाविकी चीजें हैं। और उसे स्पष्ट यों समझ लीजिए कि कहना तो यह चाहिए कि मूलमें तो वह भावशक्ति है। सभी द्रव्योंमें भावशक्ति पायी जाती है कि वह परिणमता रहे, किसी रूप परिणमता रहे। तो वही भावशक्ति जीव और पुद्गलमें भी है, पर यह समझनेके लिए कि जीव और पुद्गलमें यह विशेषता है, उसके भावशक्तिकी यह विशेषता है कि ये दो द्रव्य विभावरूप भी परिणम सकते हैं। तब दो शक्तियाँ तो नहीं कही जा सकती थीं कि भावशक्ति भी है और वैभाविकी शक्ति भी है। शक्ति एक है, उस ही शक्तिका सही परिचय पानेके लिए उसीका नाम वैभाविकी शक्ति है। जिसमें यह ध्वनित हो जाता है कि जीव और पुद्गलमें उल्टा परिणमनेकी शक्ति है, योग्यता है तो संसार अवस्थामें वैभाविकी शक्ति विकृत होती है और ऐसा विकृत होनेका कारण स्वयं वह हेतु है। रागद्वेष भाव होना और उसमें निमित्त है कर्मका विपाक। इस तरह कर्म उपाधिके संपर्कमें यह जीव वैभाविकी शक्तिके कारण विभावरूप परिणमता रहता है।

यथा वा स्वच्छताऽऽदर्शे प्राकृतास्ति निसर्गतः।
तथाप्यस्यास्यसंयोगाद्वैकृतास्यर्थतोपि सा ॥६५१॥

वैभाविकी शक्ति और उसकी परिणमनविधिके परिचयमें दर्पणका दृष्टान्त—वैभाविकी शक्ति और विभाव-परिणमन सिद्ध करनेके लिए दृष्टान्त दिया जा रहा है। जैसे दर्पण

Version

http://sahjanandvarnishastra.org/

में स्वच्छता प्राकृतिक है। दर्पण भी एक स्कंध है, यह भींत भी स्कंध है। अब यह पूछा जाय कि क्यों भाई भीतमें क्यों नहीं तुम्हारा चेहरा दिखता और दर्पणमें क्यों चेहरा दिख जाता है? उत्तर दोगे? यह ही तो कहा जायगा कि भींतमें प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेकी शक्ति है, स्वच्छता नहीं है। दर्पणमें स्वच्छता है तब वहाँ प्रतिबिम्ब झलक उठता है। भींतमें स्वच्छता नहीं है तो प्रतिबिम्ब नहीं झलकता। वहाँ भी यह देखिये कि दर्पणमें प्रतिबिम्बरूप परिणमनेकी शक्ति है, इसका कोई नाम धर तो लीजिए, कुछ भी नाम रख लो, अब विचार करिये उस शक्तिका विभावपरिणमन क्या है कि कोई परपदार्थ सामने आये, उसका निमित्त पाकर दर्पणमें प्रतिबिम्ब बन उठा। तो दर्पणमें प्रतिबिम्ब बन उठना दर्पणकी स्वच्छता शक्तिका क्या स्वभावपरिणमन कहा जायगा? विकारपरिणमन है। और उपाधिका अभाव होने पर दर्पणका, उस शक्तिका स्वभावपरिणमन चल रहा है अपने आपमें झलमला रहा है। तो जैसे दर्पणमें स्वच्छता स्वभावसे प्राकृतिक है तो भी उसमें जो प्रतिबिम्बरूप विकार अवस्था बनती है वह किसी परपदार्थका निमित्त पाकर ही बनती है। हाँ, यह जरूर कहा जायगा कि जिस समयमें प्रतिबिम्ब हुआ दर्पणमें वह प्रतिबिम्ब दर्पणका परिणमन है और वह वास्तविक है याने वस्तुमें उत्पन्न हुआ है। जैसे दर्पणको देखा तो मुखका प्रतिबिम्ब पड़ा। तो दर्पणका स्वरूपमें आकार क्या बन रहा? एक मुखमय बन रहा, द्रष्टाका मुखमय नहीं वह बन रहा, किन्तु दर्पणमें ही स्वयं ऐसा आकार बन गया, तो वह है दर्पणकी विकार अवस्था। वह दर्पणमें अभी वास्तविक है, कल्पना मात्र नहीं है, वह प्रतिबिम्ब है, छाया है। वह पुद्गलकी पर्याय है, मगर वह पर्याय दर्पणमें स्वतः नहीं हुई, उपाधिके बिना नहीं हुई। सामने मुख आये तो उसमें मुख प्रतिबिम्ब हुआ। इसी तरह जानें कि जीवके पूर्वबद्ध कर्म उदयमें आते हैं तब रागद्वेष अवस्था बनती है और रागद्वेष परिणामोंसे उस वैभाविक शक्तिका विभावपरिणमन हो रहा है, विकार अवस्था हो रही है, ऐसी अवस्था इस जीवके अनादिकालसे चली आ रही है। जैसे हम दर्पणमें अनेक प्रकारके रंग-बिरंगे प्रतिबिम्ब देखें—तो समझमें आता है कि दर्पणपर यह उपद्रव हो रहा है। दर्पण तो वास्तवमें स्वच्छ है, निर्मल है, पर वहाँ जो अनेक प्रतिबिम्ब हो रहे वे तो दर्पणपर आक्रमण हैं, उपद्रव हैं। वहाँ तो समझमें झट आ जाता है, लेकिन यहाँ भी ऐसा ही समझ लीजिए कि उसी आत्माका स्वाभाविक रूप सहज स्वरूप एक स्वच्छताका है, प्रतिभासमात्र है, ज्ञायकस्वरूप है और उसमें हमारे विकल्प-विचार तर्क विचार सुख दुःख रागद्वेष आदिक जो भी भाव बन रहे हैं ये मुझपर आक्रमण हैं, उपसर्ग हैं, उपद्रव हैं। इन उपद्रवोंमें आसक्त नहीं होता है। राग आता है तो उसे यह जानें कि यह मेरे लिए विडम्बना है, विपदा है, इसी कारण तो मेरा परमात्मपद रुका हुआ है। विकास को प्राप्त नहीं हो रहा।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

स्वरूपदृष्टि करके प्रभुदर्शनमें दर्शनका साफल्य—जब लोग यहाँ प्रभुभक्ति करते हैं, हम आप सब आते हैं तो प्रभुदर्शन करके कभी ऐसा भी तो भाव करना चाहिए कि मुझे तो ऐसा होना है, और कुछ न चाहिए मुझे। बस जैसे प्रभु हैं, यही स्थिति मेरी हो, ऐसा चित्त में आना तो चाहिए। कोई कहे कि ऐसा तो हम कई बार कह देते हैं कि प्रभु जैसी हमारी स्थिति है, लेकिन यह तो विवेक करें कि ऐसा सोचनेसे क्या इस ढंगसे सोचते हैं कि इनको हजारों लोग दर्शन करने आते, देवी-देवता जिनके दर्शन करते हैं, ये बड़े कहलाते, पूज्य कहलाते, इसलिए हमें ऐसा होना है, यदि ऐसा भाव बना हुआ है तब तो आपकी शुद्ध भावना नहीं है और वहाँ वीतराग अविकार स्वभावको देखकर रागद्वेषरहित कैसा ज्ञानस्वरूप है, स्वाभाविक स्वरूप है ? स्वाभाविक स्वरूप यहाँ विकसित हो गया है, यह मेरा स्वभाव है, मेरा स्वरूप है, यह तो सहज लीला है। यही मेरा हो, यदि इस तरहसे भावना जग रही हो तब तो दर्शन सफल है और आपने प्रभु होनेकी भावना सही बनायी है और प्रभुके उस अविकार स्वरूपपर दृष्टि न हो और फिर प्रभुभावना होनेकी बात आप सोचा करें तो यह सोचना इस तरह है जैसे यहाँ किसी करोड़पतिको देखकर कोई सोचता है कि मैं भी ऐसा हो जाऊँ, ऐसे ही इस मोहीने भी प्रभुको इतना चमत्कार वाला निरखकर सोच लिया कि मैं भी ऐसा हो जाऊँ। प्रभुके अन्तःस्वरूपमें प्रवेश करके नहीं सोचा गया। तो अपने आपके स्वरूपपर भी तो दृष्टि दो। मैं ऐसा अविकार स्वभाव प्रतिभासमात्र एक पवित्र प्रधान पदार्थ हूं। मुझपर यह सारा उपद्रव है कि जो तरंग उठ रही, कषायका रंग चल रहा, अनेक विकल्प उठ रहे, हम समाधिभावमें लीन नहीं हैं, ख्याल बन रहा है, कुछ भी ख्याल बनायें तो यह सब विडम्बना हैं। तो यह विडम्बना मेरी केवल स्वभावके कारण नहीं हुई, परउपाधिका सम्बंध होनेपर वैभाविकी शक्तिका ऐसा विकार-परिणमन हुआ है।

वैकृतत्वेपि भावस्य न स्यादर्थान्तरं क्वचित्।
प्रकृतौ यद्विकारित्वं वैकृतं हि तदुच्यते ॥६५२॥

जीवकी वैभाविकी शक्तिकी विकृत अवस्था होनेपर भी पदार्थान्तरताका प्रसङ्ग—इस जीवमें ऐसी विकृत अवस्था हुई है कि वैभाविकी शक्ति वैकृत बन गई है, इतनेपर भी पदार्थ कहीं पदार्थान्तर नहीं हुआ है। मुझ जीवका इतना विपरीत परिणमन चल रहा है, इतनेपर भी मैं जीव जीव हूं, पदार्थान्तर नहीं बन गया, कर्म नहीं हो गया, अजीव नहीं हो गया, क्योंकि विकार नाम है किसका ? प्रकृतिमें विकार स्वरूपका नाम विकार है। पदार्थमें जो विकार होता, वह उस ही पदार्थका विकार कहलाता है। परिणमन दूसरेका नहीं बन गया, जीवका ही है। इस कारण जीव जीवरूप ही रह रहा, अजीव रूप नहीं बन गया, कहीं

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ऐसा नहीं हो गया नाना संसारकी अवस्थायें और विडम्बनायें होनेसे कि मैं अजीवरूप हो गया हूं। यदि मैं अजीवरूप हो गया हूं, रागद्वेष होनेके कारण तो फिर उसका विकार क्या ? वह तो अजीव है। तब तो जो कुछ हो सो अजीवका कहना चाहिए। तो वैभाविक शक्ति आत्मामें है और वह जब विकृत अवस्थामें है तो वह विकार इसका ही है, कहीं अन्य पदार्थका नहीं है। है भी कोई एक ऐसा दार्शनिक कि जिसका यह मत है कि रागद्वेष सुख दु:ख ये सब कर्मकी दशायें हैं, प्रधानकी दशा हैं, प्रकृतिकी दशायें हैं। जीव तो एक चैतन्यमात्र है। तो भला सोचो तो सही कि ये ज्ञान आदि भी सब प्रकृतिकी दशायें हैं और जीव चिन्मात्र है, तो उसका स्वरूप क्या बने ? ज्ञान भी एक विकार मान लिया, फिर और स्वरूप क्या ? चेतनाका अर्थ क्या ? और जब यह पूछा जाता कि यदि यह विकार बन गया है प्रकृतिका तो प्रकृति ही सुख दुःख भोगे, प्रकृतिमें ही रागद्वेष आयें, अजीवमें रागद्वेष हों। अजीवका विकार है तो अजीव उसका फल भोगेगा, फिर मुझ जीवसे क्या मतलब ? तो वहां यह कहा जाता है कि इसके भ्रम हो गया है। रागी तो हो रहा अजीव कर्म और इसने माना कि मैं हो रहा। तो उत्तर हो गया सब। मैं हो रहा, ऐसा जो भ्रम है वह मुझमें है कि जीवमें है ? उसे तो कहना पड़ेगा कि जीवमें है। तो राग जैसी हल्की बात तो जीवमें नहीं मानी और भ्रम जैसी कठिन बात जीवमें मान लें तो जो विकार होता है वह जीवमें विकार होता है। जीव कहीं अन्य पदार्थरूप नहीं हो जाता। यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है।

तथापि वारुणीपानाद् बुद्धिर्नाऽबुद्धिरेव नुः।
तत्प्रकारान्तरं बुद्धौ वैकृतत्त्वं तदर्थसात् ॥९५३॥

वैभाविकी शक्तिकी वैकृत अवस्था होनेपर द्रव्यान्तरता न होनेका उदाहरणपूर्वक समर्थन—जीवमें अनेक रागद्वेष सुख दुःख उत्पन्न होते हैं। जीव जीव ही है, अजीव नहीं बन गया। इसको समझानेके लिए दृष्टान्त दिया जा रहा है। जैसे किसी पुरुषने मदिरा पी लिया तो उसकी बुद्धि विकृत हो जाती है। बुद्धि विकृत हो जानेपर बुद्धि अबुद्धि नहीं हो गयी, याने वह मनुष्य अजीव नहीं बन गया। बुद्धि ही है, वह विपरीत परिणम गया है। जिस चाहेसे जैसी चाहे बात कर डालता है, उसकी बुद्धि उसके ठिकाने नहीं है। इतनेपर भी है तो वह बुद्धि ही, जो विकृतरूप परिणम गई। अबुद्धि या अचेतन कैसे पागल बन सकता है ? पागल तो बुद्धि ही बनेगी। यह अजीव पदार्थ कहां पागल बनेगा ? तो जैसे मदिरापान करने पर भी बुद्धि विकृत हुई है, कहीं बुद्धि अबुद्धि नहीं बन गई है, इसी प्रकार रागद्वेषादिक भाव करनेपर यह जीव अजीव नहीं बन गया, अन्य पदार्थ नहीं हो गया। आज विपरीत है, समय आयगा, ठीक हो जायगा। जैसे बच्चे लोग देहातोंमें एक बड़ी और एक छोटी लाठी लेकर चलते हैं। बड़ी लाठीको दोनों पैरोंके बीचमें रखते हैं और छोटी लाठी हाथमें रखते हैं। वे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

कल्पना करते हैं कि यह मेरा घोड़ा है, उसे मारते हैं और इधर-उधर भागते हैं, खुश होते हैं। तो देखो उन बच्चोंने उस लाठीमें घोड़ेकी कल्पना कर ली, पर बताइये कि वह लाठी कहीं घोड़ेका जैसा काम कर सकेगी क्या ? घोड़े जैसा कुछ आराम दे सकेगी क्या ? पर वह उसे घोड़ा मानकर मौज मानता है। अरे उस लाठीमें चलनेकी प्रकृति ही नहीं है। चले कैसे ? वह ही खुद अपने पैरोंसे उछलता, सारा श्रम करता, हैरान होता, फिर भी मौज मानता। वह लाठी खुद तो कुछ काम नहीं कर सकती। और यदि कोई घोड़ा हो, वह कभी खोटे मार्ग में भी चलता है, सड़कको छोड़कर इधर-उधर भागता है, रास्तेमें ठीक-ठीक नहीं चलता है, तो भी यदि उस घोड़ेको लगाम डालकर उसे वश कर लिया जाय और धीरे-धीरे उसको सही मार्गपर ले आया जाय तो ऐसा हो सकता है ना ? कुपथसे हटकर वह कभी सुपथमें आ तो सकता है ना। जो लकड़ीका घोड़ा बनाया उसे चाहे खूब सजा भी दिया जाय या मान लो जो काठके बने बनाये खूब सुन्दर घोड़े आते हैं ना, वही हों, और उसे खूब अच्छी तरहसे सजा दिया जाय, फिर भी क्या उसमें कुछ चलने-फिरने, या क्रियायें करनेकी कला आ सकती हैं ? नहीं आ सकती। तो ऐसे ही समझ लो कि आज जो जीव रागद्वेषादिकसे मलिन बन रहा है उसे यदि विशुद्ध ज्ञान जग जाय, सम्यक्त्व हो जाय तो क्या वह सन्मार्गपर आ नहीं सकता ? आ सकता है, पर जो जीव ही नहीं है, अजीव है उसमें तो यह कला आ ही नहीं सकती। सभी लोग खूब विचार कर लो।

विकारसे हटकर स्वभावको ओर आनेका कर्तव्य—आज हम आप इस परिचित दुनियामें मनुष्य हो गए, ये सब परिचित है। जैसे स्वप्नमें अनेक लोगोंसे परिचय बन जाता है, पर धरा क्या है वहाँ ? एक ख्याल ही ख्याल है। इसी तरह इस ख्यालकी नींदमें मोहकी नींदमें कुछ परिचयसा बना रखा है कि यह मेरी स्त्री है, पुत्र है, मित्र है आदि, मगर है कुछ नहीं। ख्याल ही ख्याल तो है। किसीका कोई कुछ लगता है क्या ? उस जीवके पुत्र होनेकी कोई मोहर लगी है क्या ? तुम्हारे जीवमें किसीका पिता या पुत्र होनेकी मोहर लगी है क्या ? स्वतंत्र है, साफ है, स्वच्छ है, भिन्न है। कोई किसीका सम्बंधी नहीं है, लेकिन मान रहे हैं कि यह सब सत्य है। यह जगत सत्य नहीं है, ऐसा ही भव-भवमें करते आये, जैसा आज कर रहे। जैसे जो दाल-रोटी आज खावोगे वह आज आपको बड़ी अच्छी लगेगी, नई बात लगेगी, उसका स्वाद आयगा, मौज मानोगे, मगर ऐसी दाल रोटी तो दसों बीसों वर्षोंसे रोज रोज खाते आये, लेकिन उसका कौन ख्याल करता ? कलके (बीते हुए दिनके) खानेका कौन ख्याल करता, मानोगे कि आज अच्छा नया-नया खाया, क्योंकि इच्छा है, भूख है, आसक्ति है, गृद्धता है, वह लग रहा है ना ऐसा ? यों ही आसक्ति है, अज्ञान है, मोह है, गृद्धता है, रुच रहा है, भीतरमें सारा नक्शा बदला हुआ है। विपरीतताकी ओर ही हमारा अभिप्राय

चल रहा है तो यह सारा जगत परिचितसा बन गया। यह जगत अपरिचित है, अशरण है, आपको ये कोई सहाय नहीं हैं। और अब हो गए हैं मनुष्य। तो मनुष्य होकर कोई ऐसा काम बना लो कि सदाके लिए संसारके संकट छूट जायें। जो रफ्तार चली आ रही उसको बदल दें, जो रागद्वेष मोह पड़े हैं, करनेके विकल्प चले आ रहे हैं, विषयकषायके परिणाम बने आ रहे हैं उनमें मोड़ दें और अब सम्यक्त्वकी ओर आवें, हिम्मत बना लें। ये वैभव मेरे कुछ नहीं हैं। ये जिस तरह हों सो हों। घरमें रहते हैं, रहें, किन्तु घरमें रहकर जो कर्तव्य है सो करें। इस तरहका भाव बना लें और दृष्टि दें सम्यक्त्वकी ओर। मेरेको सम्यक्त्व रहे, सम्यग्ज्ञान रहे, उसकी ओर ही मेरा रमनेका यत्न रहे, ऐसा कोई एक अलौकिक प्रोग्राम मनमें लाइये तो यह होगा हम आपके भलेके लिए, अन्यथा जो बेढंगी रफ्तार थी उसीमें यह जीवन भी खो दिया तो क्या लाभ हुआ ? यह बात केवल सुनने भरकी नहीं है, कहने भरकी नहीं है, अपने आपमें एक अनुभव करनेकी बात है। हम इस ओर अपना कदम बढ़ायें तो हम संसारके संकटोंसे छूट सकते हैं।

प्राकृतं वैकृतं वापि ज्ञानमात्रं तदेव यत्।
यावदत्रेन्द्रियायत्तं तत्सर्वं वैकृतं विदुः ॥६५४॥

इन्द्रियाधीन समस्त ज्ञानोंकी वैकृतता—उक्त श्लोकमें यह दृष्टान्त दिया गया था, जैसे मदिरापान करनेसे भी मनुष्यकी बुद्धि बुद्धि ही रहती है, अबुद्धि नहीं बन जाती, विकृत जरूर हो जाती है, इसी प्रकार विभावशक्तिके विभावपरिणमनमें यह जीव, यह ज्ञान विकृत हो जाता है, तिसपर भी वह ज्ञान पदार्थ अन्य नहीं बनता है। तब यहाँ यह निष्कर्ष समझना कि चाहे स्वाभाविक ज्ञान हो या वैभाविक ज्ञान हो, चाहे मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञान हो या कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ज्ञान हो, ज्ञान सभी कहे जायेंगे और जानन प्रतिभासका काम है मात्र जानना, इतना भेद है। जो इन्द्रियज्ञान होता है वह वैभाविक ज्ञान हैं और जो क्षयोपशम पाकर ज्ञान हो रहा वह भी वैभाविक है। इन ८ प्रकारकी ज्ञानमार्गणाओंमें एक केवलज्ञान ही तो स्वाभाविक ज्ञान है, बाकी ७ ज्ञान वैभाविक ज्ञान है और उन वैभाविक ज्ञानोंमें भी इतना अन्तर है कि चार तो हैं सम्यक्विभावज्ञान और तीन हैं मिथ्याविभावज्ञान। किसी भी दृष्टिमें किसी भी तरहका विभाव बना लें। यहाँ यह बात बतायी जा रही है कि सब प्रकारके ज्ञानोंमें ज्ञानपनेकी दृष्टिसे समानता है, फिर भी जिसमें इन्द्रियकी अपेक्षा है, ऐसा ज्ञान वैभाविक ज्ञान है। हम आप छद्मस्थ जीवोंके जो ज्ञान बर्त रहा है वह इन्द्रियापेक्ष ज्ञान है, वह वैभाविक ज्ञान है। हम आपको इन इन्द्रिय द्वारोंने ही कुचल रखा है, भीतर हम एक स्वतंत्र ज्ञानज्योतिस्वरूप पावन पदार्थ हैं। उनकी महिमा किसीकी उपमा देकर नहीं की जा सकती। ऐसा परमपावन ज्ञानज्योतिस्वरूप मैं हूं, लेकिन अनादिसे ही यह दशा बन रही

है। हम जिन इन्द्रियोंसे प्रेम करते हैं, जिन इन्द्रियोंको देखकर हम खुश होते हैं, बड़े बलिष्ट हैं, इन्द्रिय आँख मेरी खूब तेज है, खूब अच्छा सुनता हूं, अच्छा स्वाद लेता हूं, सब प्रकारके जो ये इन्द्रियद्वारा ज्ञान किए जा रहे हैं उसमें भी लोग आसक्त हैं और इन इन्द्रियोंमें भी आसक्त हैं। इतना हमें कदर्थित कर दिया है इन इन्द्रियोंने कि निरन्तर आकुलित रहा करते हैं। जहाँ ये इन्द्रियाँ नहीं रहतीं, जहाँ इन्द्रियजन्य ज्ञान नहीं होता वह प्रभु कहलाता। भावना करना है तो ऐसा भाव करो कि मुझे इन इन्द्रियोंसे प्रयोजन नहीं। मैं केवल मनुष्य पर्यायमात्र नहीं हूं। मैं तो शाश्वत आत्मतत्त्व हूं, मुझे इन्द्रियोंसे प्रयोजन नहीं। मेरेको इन्द्रियोंमें कोई आसक्ति नहीं। बल्कि भावना है कि कब वह क्षण आये कि इन इन्द्रियोंका सदाके लिए वियोग हो जाय। तो ये इन्द्रियाँ हमारे मथनेकी कारण बन रही हैं। इन इन्द्रियोंसे प्रीति नहीं करना, इन्द्रियजन्य सुखसे प्रीति न करना, अपने आपके अन्तः प्रकाशमान ज्योतिस्वरूप आनन्दमय जो कारणपरमात्मतत्त्व है उसका सहारा लें, उसकी दृष्टि करें। विकार हट जायगा, सारे दुःख टल जायेंगे।

अस्ति तत्र क्षतिर्नूनं नाक्षतिर्वास्तिवादपि।
जीवस्यातीवदुःखित्वात् सुखस्योन्मूलनादपि ॥६५५॥

जीवकी वैकृत अवस्थामें जीवकी हानिका प्रतिपादन—जीवमें जो विकारकी अवस्था आती है उस विकृत अवस्थामें जीवकी हानि होती है। विकृत अवस्थासे जीवमें हानि क्या होती है कि यह जन्ममरण करता है, अनेक शरीरोंको धारण कर उनका दुःख सहता रहता है, यह इसकी हानि है। जैसे पहिले बताया था कि विकृत अवस्था होनेपर भी ज्ञान ज्ञान ही रहता है। वह कहीं अजीव नहीं बन जाता, अज्ञान नहीं हो जाता। तो उससे इतना आगे न बढ़ जाना चाहिए कि फिर तो विकृत अवस्थासे हानि ही कुछ नहीं है। सुनिये, वह तो एकस्वरूपकी बात कही गई थी, लेकिन विकार होनेपर जो आकुलता आ गई है वह तो हानि ही हानि है। आत्माका हित अनाकुलता है और कुछ भी बातें बनती रहो आत्मामें एक आकुलता न बसे तो इसको फिर क्या फिक्र? और आकुलता बनी हो तथा बाहरी साज सामान श्रृंगार दिखावट बहुत प्रभुता जैसी बनी हो तो उससे क्या लाभ? जीव अपना हित मानता है अनाकुलतामें। जैसे अनाकुलता प्राप्त हो उसमें ही यह जीव राजी रहता है। लेकिन अंधेर तो देखो कि जिन बातोंमें आकुलता ही आकुलता है उनमें तो यह जीव राजी है और जिसमें आकुलता नहीं होती, ऐसे स्वरूपदर्शनके कार्यमें, आत्मतत्त्वके आलम्बनमें, वैराग्यके धारणमें इस जीवको हित नहीं सूझता।

व्यवहारनयको छोड़कर निश्चयनयके एकान्तसे जीवकी शुद्धता माननेमें आपत्तियां—वस्तुका परिचय पानेकी दो पद्धतियाँ होती हैं—एक निश्चयनय, दूसरी व्यवहारनय। निश्चय-

नयसे तो वस्तुके सहजस्वरूपका बोध किया जाता है और व्यवहारनयसे अनेकका सम्बंध, परका निमित्त पाकर होने वाला प्रभाव अथवा परिणतियाँ ये व्यवहारनयके विषय हैं। इस प्रकरणमें यह बात चल रही थी कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है और विभावशक्तिमें भी जब विकृत परिणमन होता है तब भी ज्ञान अज्ञान नहीं बन जाता अर्थात् अचेतन नहीं हो जाता। हाँ इतनी बात अवश्य है कि जीवमें विकार आ जाते हैं। रागद्वेष, सुख दुःख आदिक विभाव उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसी बात सुनकर निश्चयनयका एकान्त रखने वाला कोई पुरुष यहाँ यह आशंका रख रहा है कि बस जीव जब ज्ञानस्वरूप है, ज्ञान अज्ञान नहीं बनता है तब तो यह बड़े मौजकी बात रही। उसके समाधानमें व्यवहारनयकी दृष्टिसे विवरण दिया जा रहा है कि निश्चयनयसे तो उसका एक स्वरूप बताया गया था, पर देखो तो सही—परिणतियाँ क्या हो रही हैं? परउपाधिका सम्बंध पाकर आत्मामें जो विभावशक्तिका परिणमन चला है वह क्षोभमय है, आकुलतारूप है, जीवकी प्रकट हानि है। क्या हमें दुःखी ही होते रहना है? दुःखसे दूर होना है तो उसका इलाज है यह परपदार्थ प्रतिक्रमण, परमार्थस्वरूपका दर्शन, पर जैसा स्वभाव है, स्वरूप है वैसा प्रकट परिणमन तो नहीं चल रहा, वैभाविकी शक्तिके विभावपरिणमनमें जीवकी हानि हो रही है। कर्मबंधसे आत्माकी कुछ हानि नहीं है। आत्मा सदा शुद्ध है। ऐसा कहने वालेने वस्तुका सर्वदृष्टियोंसे परिचय नहीं किया और व्यवहारनय को मिथ्या समझते हैं, यह उनकी भूल है। जैसे कोई पुरुष खौलते हुए पानीको यह कहकर कि पानीका तो स्वभाव ठंडा है, पानीमें क्या बिगाड़ है और पी लेवे तो उसकी जीभ ही तो चलेगी। इसी तरह आत्माका स्वभाव शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप है, पर ऐसा सुनकर कोई सर्वथा पर्यायमें भी मान ले कि मैं तो आनन्दस्वरूप हूं, बन्धरहित हूं, अमर हूं, सच्चिदानन्द हूं, इसमें कोई बिगाड़ ही नहीं होता है, ऐसा कोई पर्यायरूपसे भी मान ले तो जन्ममरण करेगा कौन? संसारमें दुःख कौन भोगेगा? तो दोनों दृष्टियोंसे आत्माकी परख करिये—यह जीव कर्मबन्धनसे ही तो कष्ट भोग रहा है, दुःखी हो रहा है। जो बेहोश फिर रहा है, रागद्वेषसे आकुलित हो रहा है तो ये सब बातें इसपर बीत रही हैं। इसे दूर तब ही तो करेगा कोई कि जब मान लेगा कि हाँ जंजाल रोग है और इस जंजालसे छूटनेका उपाय भीतर सुगम स्वाधीन पड़ा हुआ है। दोनों दृष्टियाँ हों तो वह कल्याणमार्गमें लग सकेगा।

अपि द्रव्यनयादेशाट्टंकोत्कीर्णोऽस्ति प्राणभृत्।
नात्मसुखे स्थितः कश्चित् प्रत्युतातीव दुःखवान् ॥९५६॥

द्रव्यार्थिकनयसे टङ्कोत्कीर्णवत् निश्चल स्वभाव होनेपर भी प्राणीकी वर्तमान दुःखरूपता—यद्यपि द्रव्यार्थिकनयसे यह जीव टङ्कोत्कीर्णवत् शुद्ध है, निश्चल है, स्वयं स्वयंमें है। तो भी पर्यायार्थिक नयसे देखिये तो सही कोई संसारी जीव अपने सुखमें स्थित नहीं है, किन्तु

Report any errors at vikasnd@gmail.com

दुःखी है। दुःखसे दूर होनेका उपाय स्वभावदर्शन है। मनको पसंद लगने वाला दिलचस्प उपन्यास सुन लो या प्रवचन सुन लो, किसीका भाषण सुन लो, जो दिलको तुरन्त बड़ा सुख उत्पन्न करे, सुख उत्पन्न करने वाली चीजें इन विषयी जीवोंको वे ही बातें तो होंगी जो इसको विषयोंमें प्रेरित करतो रहें। ऐसे मित्र (विषयोंकी ओर प्रेरित करने वाले मित्र) तो जगतमें बड़ी सुगमतासे मिल जाते हैं, लेकिन जीवके कष्टके कारणभूत, जीवकी बरबादीके हेतुभूत जो रागद्वेष मोहादिक हैं उनसे दूर कराने वाले मित्र बड़ी दुर्लभतासे मिल पाते हैं। अपने दिलको स्वच्छन्द न बनाइये कि मुझे तो अपनी मनपसंद मौज वाली बात ही सुनना है। अरे ऐसी बातें तो अनादिकालसे सुनते आये हैं, अनुभवते आये हैं, ऐसी बैर विरोधभरी, रागद्वेष मोह भरी बातें तो परम्परासे चली आयी हैं। उनमें उत्साह न बनाइये और एक विवेक जगाकर कि मुझे तो किसी भी प्रकार अन्तःविराजमान परमात्मस्वरूपका अनुभव करना है, इसके लिए सारे प्रेम छोड़ने पड़ें, सारे विरोधका विरोध करना पड़े, सारे मोहको तिलाञ्जलि देनी पड़े, सबका ख्याल छोड़ना पड़े, सबके लिए तैयार हों, सब कुछ मेरे दिलसे हटे। मैं तो एक अन्तःप्रकाशमान कारणपरमात्मतत्त्वका दर्शन करूँगा। ऐसा मनमें एक संकल्प बनायें, दृढ़ भावना बनायें और धर्ममार्गमें चलें।

धर्मके स्वरूपका दिग्दर्शन—धर्मकी यह व्याख्या नहीं है, धर्मकी यह परीक्षा नहीं है कि जैसे बहुतसे लोग समझें, पसंद करें अथवा बहुतसे लोग जो बात कहें बस वह धर्म हो जायगा। धर्मके लिए वोटोंसे परीक्षा न करें, विवेकसे परीक्षा करिये—अगर लोगोंसे वोट लेने चलें कि धर्म किसे कहते हैं ? तो कोई कहेगा कि मोह करना धर्म है। स्त्री-पुत्रादिकका पालन धर्म है, बस प्रेमको धर्म बतायेंगे, मगर प्रायः करके जहाँ जावो, जहाँ पूछो, यही बात कहेंगे। तो वोटोंसे तो धर्मका स्वरूप आप न जान सकेंगे। धर्मका स्वरूप यदि जानना है और किसी की सम्मति लेना है, वोट ही लेना है तो ये सब ग्रंथ पड़े हैं, इनमें धर्मका सही स्वरूप बताया गया है। आज तो समन्तभद्र, कुन्दकुन्द आदिक आचार्यदेव यहाँ नहीं हैं, लेकिन उनके दर्शन हम इन ग्रन्थोंमें कर सकते हैं और अपने जीवनको सफल बना सकते हैं। तो धर्मका स्वरूप इन ग्रन्थोंमें देखिये तो सही—क्या मिलेगा ? धर्मका स्वरूप है आत्माका स्वभाव। आत्माका स्वभाव क्या प्रेम करना है ? अरे वही तो संकट है, वही तो विपदा है। प्रभुका तो यह आदेश है कि अरे भक्त तू मुझमें भी प्रेम मत रख और अपने आपके अविकार स्वभावकी दृष्टि कर, लेकिन जिसका जिसमें प्रेम हो रहा हो उसमें प्रेम किए बिना यह रहेगा कैसे ? अनुराग करेगा, पर प्रभुका तो यह उपदेश है कि तू किसी भी परद्रव्यका आश्रय न कर, केवल अपने आपके स्वद्रव्यका आलम्बन कर। अपने आपके सहजस्वरूपमें ही गुप्त हो जाय। धर्म यह है कि जिसका आश्रय लेनेसे जन्ममरण सारे संकट टल जायेंगे।

द्रव्यशुद्धिके उपयोगकी दुःखक्षयोपायरूपता व वर्तमान असुस्थितता—भैया ! उपाय

तो जरूर यह है कि जो द्रव्यार्थिक नयका विषय है, अविकार चैतन्यस्वभाव, उसकी दृष्टि करें, प्रतीति करें, आलम्बन करें, पर वर्तमान परिणमनमें भी स्वभाव जैसी ही बात मानकर स्वच्छन्द हो जायें तो यह तो उचित नहीं है। तो द्रव्यार्थिकनयसे टंकोत्कीर्णवत् पाषाणकी तरह एक निश्चल है स्वरूप तथापि पर्यायार्थिक नयसे देखो तो यह संसारी प्राणी कोई भी सुखमें स्थित नहीं है, प्रत्युत दुःखी है, लेकिन अपने-अपने दिमागसे, अपने-अपने उपयोगसे अपने आपमें आत्मस्वभावको भूलकर एक यशकी कल्पना करता है मोही। मैं अच्छा कार्य कर रहा हूं, ऐसी कल्पना करते हैं तो यह स्थिति तो जिन-जिन जीवोंमें है वे सभी मोही हैं और दुःखी हैं। क्या पागल फिरने वाले लोग अपने दिमागमें अपनी चतुराई न समझते होंगे ? जब वे बादशाहोंकी तरह अकड़कर कुछ भी शल्य न रखकर अपनी वचनचेष्टासे प्रवृत्ति करते हैं तो क्या वे अपनेको चतुर न समझते होंगे ? तो दुनियाके लोगोंसे वाहवाही लेकर अपने आपमें सन्तोष मानने वाले भी अपनेको चतुर समझें तो पागलमें और उस चतुरमें क्या अन्तर रहा ? बेदाग, बेराग धर्मका स्वरूप है। ऐसा धर्मका स्पर्श है। ऐसा धर्मका स्पर्श न होनेसे जीव अब तक संसारमें दुःखी रहा। वैभाविकी शक्तिका जो विभावपरिणमन है उस विभावपरिणमनमें यद्यपि यह जीव अजीव नहीं बन पाता, लेकिन दुर्गति हो जाती है। एक कल्पनामें सोचो तो सोच लो कि यदि मैं अजीव बन जाता तो बड़ा अच्छा था। अजीव पदार्थ कितने पड़े हैं, उन्हें कोई क्लेश नहीं। मगर इसके विकार होनेसे, इतना कर्मोंका आवरण होनेसे कितना संकट है कि मैं अजीव भी नहीं बन पाता और ढंगसे जीव भी नहीं रह पाता। तो ऐसी विकट स्थिति इस जीवपर गुजर रही है।

नाङ्गीकर्तव्यमेवैतत् स्वस्वरूपे स्थितोस्ति ना।
बद्धो वा स्यादवद्धो वा निर्विशेषाद्यथा मणिः ॥६५७॥

सोपाधि स्थितिमें जीवके अशुद्ध परिणमनका उद्घोष—कोई लोग ऐसा न समझ लें कि इस जीवको कि यह वर्तमान दशामें सर्व प्रकारसे शुद्ध है। जैसे कोई स्वर्णकी डली कीचड़ में पड़ी रहकर भी वह डली अपने आपमें पूरे तौरसे शुद्ध ही है। उस स्वर्णकी डलीमें कुछ अन्तर नहीं आ गया। उस स्वर्णकी डलीमें वह वैसा स्वर्णत्व तो बना ही है। ऐसा यहाँ अभी न समझ लेना कि यहाँके संसारी जीव इन समागमों और शरीरके बीच रहकर पूर्णतः अपने आपमें शुद्ध है। जीवमें कुछ गड़बड़ ही नहीं है। अरे गड़बड़ी तो स्वभावमें नहीं है, परंतु परिणमन देखो तो गड़बड़ीका परिणमन है। आत्माके प्रदेश-प्रदेशमें जब रागद्वेष समाया तो सर्वप्रदेशोमें समाया। भीतर विकार है और प्रदेशमें समानेकी बात नहीं है। इससे भी और भीतर देखिये तो जो चारित्रगुण है, श्रद्धा गुण है वह सब उल्टा हो रहा है। कैसा विकार बन रहा है ? देखो—ज्ञानावरण कर्मका उदय आये तो इतना ही होगा कि ज्ञान न हो पायेगा। आवरण ही तो किया, ज्ञानको उल्टा तो नहीं कर दिया, लेकिन मोहनीय कर्मका

उदय होनेपर तो श्रद्धा और चारित्रका आवरण नहीं है, किन्तु श्रद्धा और चारित्रका उल्टा परिणमन है। सारे विकार मोहनीयके कारणसे हैं।

मोहपद्धतिमें बरबादीका ही लाभ—अब जरा कुछ विकार रूपको अपने आपपर घटित कर लो। मोहमें इस जीवको मिला क्या ? जितने परिजन गुजर गए हैं उनका आपपर कितना मोह था और आपका उनपर भी मोह था। ऐसा कोई घर नहीं है जिसमें अनेक लोग न गुजरे हों। सब अपने आपका अंदाज कर लो दादाका बाबाका। अब बताओ वह सब मोह करना व्यर्थ रहा कि नहीं ? लाभ तो कुछ न मिला। तो जो गुजरी बातसे हमें शिक्षा मिल सकती है उस शिक्षाको यदि वर्तमानमें भी घटा लो तो क्या इस जीवका कल्याण न हो जाय ? जब उन गुजरे हुए लोगोंके प्रति मोह व्यवहार रहा और उस मोहसे मैं कुछ लूट न सका, व्यर्थ ही मोह किया, तो ऐसे ही समझिये कि आजके वर्तमान प्रसंगमें भी चेतन और अचेतन पदार्थमें जो मोह किया जा रहा है वह ऐसा ही व्यर्थका मोह है। जैसे उन गुजरे हुए के मोहमें कुछ हाथ नहीं लगा, ऐसे ही वर्तमान सामने रहने वाले चेतन अचेतनके मोहमें भी कुछ हाथ नहीं लगता।

अपराधियोंसे लाज संकोचकी अनधिरूढ़ता—देखिये—रही अब एक इस परिचित दुनियाकी बात, लाज संकोचकी बात। तो देखो–घरमें भी जिससे अपना स्वार्थ नहीं सधता, जो अपने लिए दुःखका हेतुभूत हो जाता है उससे आप लाज और संकोच तो नहीं करते। अपने ही घरमें देख लो—अनेक भाई हैं, न्यारे हों अथवा एक साथ हों, जब उनसे अपना कोई काम नहीं बनता और अपने सुख-शान्तिके वे काम नहीं आते तो उनकी लाज और संकोच तो करते न होंगे। सामने जवाब देनेको भी तैयार रहते होंगे। उनसे मुख मोड़नेका भी संकल्प किये होंगे। तो घरमें जिनसे आपका काम न सारे उनसे तो लाज संकोच नहीं रखते, तो यह ही प्रयोग सब जगह कर लो। जब जगतके और जीवोंसे मेरा कोई काम नहीं सधता, कोई भी प्राणी मेरे उद्धारमें, कल्याणमें, शान्तिमें मदद कर सकने वाला नहीं है, स्वरूप ही ऐसा है कि किसीमें किसी दूसरेका दखल नहीं है तो जब इन जीवोंसे मेरा कोई काम नहीं बनता तो मैं इनका ऐसा लाज और संकोच क्यों करूँ कि मैं अपने प्रभुका दुश्मन बना रहूं ? प्रभुका दुश्मन बनकर फिर कहीं ठिकाना न रहेगा, और जो लोग दिख रहे उनकी लाज संकोच न करके हमें कोई नुक्सान नहीं होगा, बल्कि रागद्वेषरहित, प्रेमविरोधरहित जो यह अविकार स्वभाव है, जो अपना प्रभु है, उस प्रभुसे मिलन हो जायगा व स्वयं निकट काल में परम निर्दोष हो जायगा।

स्वरूपदृष्टिका सत्साहस बनानेका अनुरोध—भैया ! किसी दिन तो जी कड़ा करना ही होगा याने इस सुलभ मिले हुए दुःखके आश्रयभूत विषयोंके साधनभूत पदार्थोंसे मुख मोड़ना

http://sahjanandvarnishastra.org/

और अपने आपके स्वरूपमें दृष्टि लगना, इसको कह रहे कि शायद कड़ा लग रहा हो यह काम, इस कारण हम भी सबकी भाषामें मिलकर बोल रहे हैं कि ऐसा कड़ा जी तो किसी दिन करना ही पड़ेगा, नहीं तो संसारके दुःख ही भोगते रहेंगे। अब आप यदि यह सोचें कि ऐसा कड़ा जी करनेका अभी मौका नहीं है, आने दो मौका, तो भला बतलाओ—ऐसा मौका किस भवमें पावोगे ? कुछ ठिकाना नहीं है। तो यह जो मौका पाया है, इन्द्रियां सब ठीक हैं, सबल हैं, सोच विचार सकते हैं, ज्ञान भी उत्तम है, जैनशासनका समागम है, ऐसे अवसर पर यदि कड़ा जी न कर सकें, विषयोंसे मुख न मोड़ सकें, आत्मस्वरूपकी ओर दिल न लगा सकें, वस्तुस्वरूपके समझनेमें अपना प्रवेश न कर सकें तब फिर जो संसारकी हालत है, जो सभी इन ६ कायके जीवोंकी हालत है बस वही हालत बनी रहेगी।

आत्मकरुणाकी प्रेरणा—भैया ! अपने आपपर दया करो, अपनी दयाकी बात कह रहे हैं। बाह्यमें तो यह बात है कि जैसे एक कहावतमें कहा करते हैं कि 'लेवा मरे या देवा,' बलदेवा करे कलेवा। कोई दलाल था बलदेवा, मान लो वह गल्लामण्डीमें था, तो बेचने वाले से भी कुछ कमीशन लेता था और खरीदने वालेसे भी। तो कोई सौदा ऐसा आ गया कि जिस सौदाके बिक जानेके बाद बेचने वाला तो यह सोचने लगा कि मैं तो ठगा गया, मेरेको इतना नुक्सान हुआ, कल्पना की तो बात है, और उधर खरीदने वाला भी यह सोचने लगा कि इसके तो मैं ठगा गया। अब वे दोनों तो हो रहे दुःखी और अपना कमीशन लेनेके बाद एक नीमके पेड़के नीचे बैठकर अपना टिपेनबाक्स निकालकर नाश्ता करने लगा और अपने आप ही कहने लगा कि "लेवा मरे या देवा, बलदेवा करे कलेवा।" अरे बाहरी बातोंको आप किस-किसको समझायेंगे ? किसका मन भरेंगे ? कौन तुमपर खुश होगा ? ये तो सब अपने परिणमनके अनुसार खुश होते हैं अथवा दुःखी होते हैं। उनकी लाज करना, उनका संकोच करना, उनको सुखी रखनेके लिए बड़ा श्रम करना, यह तो कोई इस आत्मप्रभुकी बुद्धिमानी नहीं है। योग्यता तो बताओ कि जिस समय प्रभुका ध्यान करने बैठे, सामायिकमें बैठे, दर्शन करने आये, किसी साधु संतके निकट बैठे तो वहाँ इतनी पात्रता तो हो कि हम राग विरोध छोड़कर अपने आपके स्वरूपकी आराधना कर सकें। कितना बिगाड़ है इस कर्मउपाधिमें, इस बिगाड़से मोह बसाकर और जगतमें अन्य जीवोंको इष्ट अनिष्ट मानकर अपने प्रभुसे विरोध कर रहे हैं। तो दोनों स्थितियाँ समझ लीजिए। स्वभाव तो है मेरा कि एक अमृतसरोवर जिसमें प्रवेश करके तृप्त हों, खुश हों, कोई संकट बाधा नहीं। जब जहाँ ज्यादा कूड़ा जम जाता है सड़कपर या अन्य जगह तो लो अनायास सहज ऐसा उपाय बनाता है वह कूड़ा साफ करने वाला कि जरासी आग लगा दी तो सारा कूड़ा साफ हो गया। ढो-ढोकर कहाँ तक श्रम करे ? तो ऐसे ही यहाँ संकटोंका कूड़ा जम गया है। अब इतना कूड़ा जम गया कि एक-एक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

संकटको उठा-उठाकर, मिटा-मिटाकर कहाँ तक श्रम करें ? वे सब संकट मिट ही न सकेंगे। जितना मिटावेंगे अपने लौकिक उपायोंसे उतना ये संकट और बढ़ेंगे। मोहीके पास तो संकटों का अक्षय भण्डार है। उन संकटोंको दूर करनेका उपाय रागद्वेष मोह आदिके परिणाम करना नहीं है, किन्तु रागद्वेषरहित ज्ञानमात्र जो अपना सहज स्वभाव है उस स्वभावकी भक्ति उपासना आलम्बन करना, यह उपाय है। इस स्वभावदृष्टिमें ऐसा प्रताप जगता है कि जिस प्रताप के कारण यह विशाल कूड़ा क्षणभरमें जलकर भस्म हो जाता है। सो जीवनमें करनेका काम एक ही है, दूसरा है ही नहीं। आपको रागमें ऐसा लगता होगा कुछ कि यह भी अच्छा काम है, यह भी अच्छा काम है, पर जैन शासनका तो एक ही निर्णय है कि वीतराग अथवा कहो रागद्वेष रहित अविकार ज्ञानस्वभावका आलम्बन लेना, आश्रय लेना, रागको सर्वथा मिटाना, मोह, प्रेम, विरोधका रंचमात्र भी न रह सकना, ऐसी स्थिति बने मेरी तो बस यही मात्र मेरा शरण है, अन्य कुछ मेरा शरण नहीं है। काम एक ही है, दूसरा कोई काम नहीं है। ऐसा यदि पक्का निर्णय बनता है आपका तो समझिये कि यही सम्यक्त्व है।

अन्तस्तत्त्वकी प्रियतमताका विचार—जरा भीतर निगाह कीजिए। आपको सबसे अधिक प्रिय क्या है ? दूकान, दौलत, परिजन, कुटुम्ब या लौकिक यश कीर्ति आदिक ? यदि एक इस कारणपरमात्मतत्त्वको छोड़कर अन्य कुछ भी बात आपके पसंद आयी तो समझिये कि हमें सही रास्ता ठीक नहीं मिल सका। हर जगह दूकानमें, घरमें या कहीं बाहर आप बैठे हों, सर्वत्र पसंद होना चाहिए वीतराग भाव, शुद्ध स्वच्छ ज्ञानस्वभाव, ज्ञाताद्रष्टा रहना। जिसका आदर्श है उदाहरण है अरहंत सिद्धदेव। उन उदाहरणोंके द्वारा पसंद कीजिए अथवा सीधा अपने आपमें दृष्टि देकर पसंद कीजिए एक अपना स्वभाव, आत्मधर्म। यह यदि आपको प्रिय है, प्रियतम है तब तो आप वास्तवमें कल्याणके पात्र हैं। प्रियतमका अर्थ आजकल लोग करने लगे पति। एक स्त्रीके लिए सबसे अधिक प्रिय होता है पति, अतः उसे प्रियतम मान लिया। लेकिन यह जीव अपने आपकी जिम्मेदारी समझ करके अर्थात् मैं शाश्वत सत् हूं, आगे भी रहूंगा। अपनेमें बनना, बिगड़ना और बना रहना किया करता हूं तो सदा मेरेको आनन्द बना रहे, ऐसी स्थिति पानेके लिए मैं किस प्रियतमका शरण लूँ ? तो उसे दिख जायगा अपने आपमें अपना यह परमात्मस्वरूप। यही है प्रियतम। तो ऐसा स्वभाव सबके अन्तः प्रकाशमान है, उसका आलम्बन लो और दुःख मेट लो। सर्वथा शुद्ध मत मान लो कि मेरेको दुःख है ही नहीं, दुःख हैं और उनको दूर करनेका उपाय स्वभावका आलम्बन है।

यतश्चैवं स्थिते जन्तोः पक्षः स्याद् वाधितो बलात्।
संसृतिर्वा विमुक्तिर्वा न स्याद्वास्यादभेदसात् ॥६५८॥

ज्ञानचेतनासे सम्बंधित प्रकरणका स्मरण—मूल प्रकरण इस भागमें यह चल रहा

था कि जीवमें ३ प्रकारकी चेतनायें होती हैं—(१) ज्ञानचेतना, (२) कर्मचेतना और (३) कर्मफलचेतना। मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञानको ही करता हूं, ज्ञानको ही भोगता हूं, ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है, ज्ञानमय हूं इस प्रकार अपने आपका अनुभव करना, चेतना प्रतीति करना, इसका नाम है ज्ञानचेतना, और ज्ञानभावके अलावा अन्य भावमें, अन्य किसी पदार्थके प्रति मैं इसे करता हूं, इस प्रकारके करनेका अनुभव करना कर्मचेतना है। इसी तरह कर्मचेतना क्या है? ज्ञानके अतिरिक्त जो भी भाव होते हैं अथवा परपदार्थ हैं उनमें भोगनेका भाव बनाना, मैं इसे भोगता हूं, इसे कहते हैं कर्मफलचेतना। इसमें ज्ञानचेतना तो सम्यग्दृष्टि जीवके होती है और कर्मचेतना व कर्मफलचेतना मिथ्यादृष्टि जीवके होती है। कदाचित् चारित्रमोहके उदयमें कर्म और कर्मफल आ जाय तो भी वह कर्मचेतना कर्मफलचेतना मुख्यरूपसे सम्यग्दृष्टिके नहीं मानी गई है। उस ज्ञानचेतनाके सम्बंधमें यह कहा गया था कि ज्ञानचेतना एकस्वरूप है, एक आत्माका उसमें संचेतन है। ज्ञानभावको छोड़कर अन्य भावमें मैं दुःखी हूं, इस प्रकारका अनुभव नहीं होता। तो वहाँ संक्रमण नहीं है, जैसे और ज्ञानोंमें संक्रमण है। जैसे चौकी जाना, अब किवाड़ जाना, अब भींत जाना, जैसे अन्य ज्ञानोंमें ज्ञानके विषय बदलते रहते हैं इस तरह ज्ञानचेतनामें ज्ञानका विषय नहीं बदल सकता। एक शुद्ध सहज ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व इस ज्ञानचेतनाका विषय रहता है। इसपर शङ्काकारने यह आपत्ति उठायी थी कि जब राग भाव होता है तब तो ज्ञानचेतना मिट जायगी। उसके समाधानमें कहा गया कि रागभाव जो सम्यग्दृष्टिके रहता है उस रागमें यह सामर्थ्य नहीं है कि उससे ज्ञानचेतना मिट जाय। तब शंकाकारने फिर यह आशंका व्यक्त की कि लो रागभावके कारण ज्ञानचेतना तो न मिटी, मगर दर्शनमोहका उदय आ जायगा तो फिर तो सम्यक्त्व मिट ही जायगा, ज्ञानचेतना मिट ही जायगी और यों दर्शनमोहके उदयका कारण बन जायगा राग, तब तो ज्ञानचेतना न रहेगी। उसके समाधानमें यह बताया गया था कि रागसे दर्शनमोहका उदय नहीं आता। दर्शनमोहका उदय उसके अपने कारणसे आयगा। इस ही कारणको स्पष्ट बताते हुए वैभाविकी शक्ति बतलायी गई है कि जीवमें एक वैभाविकी शक्ति है, जिसका विकृत परिणमन तो संसार अवस्था है और शुद्ध परिणमन परमात्म अवस्था है।

विभावपरिणमनकी विपत्तियोंका दिग्दर्शन—विभावपरिणमनके वर्णनके प्रसंगमें किसीने यह अपना अभिप्राय जाहिर किया कि लो आत्मा तो शुद्ध ज्ञानस्वरूप है, तब विकारपरिणमनसे अज्ञान नहीं बनता, जीव अजीव नहीं बनता, तो जीवको क्या आफत पड़ी अब? उसका समाधान दिया गया है कि जीव इस समय संकटमें है, इसपर बड़ी आपत्तियाँ छायी हैं, ऐसा मत मान बैठो एकान्तसे कि मैं तो शुद्ध स्वरूप हूं, मेरेपर कोई विपत्तियाँ नहीं हैं। ध्यानमें नहीं लाते, जब रागका उदय होता है, विषयोंमें प्रीति पहुंचती है तो सब बातें भूल

http://www.jainkosh.org

जाते हैं। अपनी विपत्ति ध्यानमें नहीं रहती कि मैं कितना विपत्तिमें हूँ ? मनुष्यभवमें ही देख लो—कितनी विपदायें हैं ? महती विपत्ति तो मनुष्योंपर प्रथम यह ही है कि आजके इस मनुष्यके भीतर यह मूर्खता बसी है कि वह यह चाहता है कि मेरा जगतमें नाम हो, यश कीर्ति बढ़े। देखो यह सबसे बड़ी भारी मूढ़ताकी बात है। जगतके ये जीव कुछ प्रभाववान दिखते हैं क्या ? कर्मोंके प्रेरे, जन्ममरणके दुःखिया, अपने ही दुःखसे बड़े दुःखी हैं। उनमें क्या चाहते हो कि ये मेरेको कुछ अच्छा कह दें ? जिनको आत्माकी श्रद्धा नहीं है वही लोग बाहरके लोगोंसे अच्छा कहलवानेकी भीतरमें चाह रखा करते हैं। यह विपदा है। खूब भली-भांति सोचो, इसके कारण जीवनमें सारे संकट आते हैं। बताओ अधिक तेज कमाईकी ओर चित्त क्यों जाता है ? मैं लखपति बनूँ, करोड़पति बनूं, अरबपति बनूँ, इसकी ओर दिल क्यों जाता है ? क्यों यहाँ बेहताश होकर भाग रहे हैं ? मूलमें यह महासंकट लगा है कि ये दुनिया के लोग मेरी बड़ाई करें, इसके लिए बढ़ रहे हैं। तो आरामसे जो कमाई आये, आने दो, उसीमें गुजारा कर लो और धर्मध्यानमें, ज्ञानसाधनामें अपना खूब उपयोग लगाओ। कितने दिनोंका जीवन है ? आखिर मरना होगा। न जाने यहाँसे मरकर कहाँ जायेंगे ? फिर यहां का क्या रहा मेरा ? धर्मसाधना होगी, ज्ञानवासना होगी तो अगले भवमें भी वह काम आयगी। चाहिए तो यही था, मगर दौड़ रहे हैं भौतिकताकी ओर। इसके मायने क्या हैं कि इन्हें आत्मस्वरूपकी सुध नहीं है। इस कारणसे दुनियाके बड़प्पनकी तृष्णा बढ़ गयी, यह विपत्ति क्या कम है ? अब इसके बाद और विपत्ति देख लो—सम्मान अपमानकी विपत्ति, घरके झंझटोंकी विपत्ति, और ये तो हैं न कुछ जैसी विपत्तियाँ, पर जन्ममरणकी कितनी बड़ी विपत्ति इस हम आपके साथ लगी हुई है ? तो कितनी बड़ी विपत्ति जन्ममरणकी छाई है, इसकी ओर तो कुछ भी ध्यान नहीं दिया जा रहा है। और जो कल्पनामें आया उसको ही दुःख मानकर उसको ही मिटानेके लिए रात-दिन भरसक प्रयत्न कर रहे हैं। कुछ भी किया जाय, पर आत्मज्ञानके बिना संतोष तो नहीं पाया जा सकता।

स्वभावतः शुद्ध होनेपर भी संसार पर्यायमें अशुद्धताका निर्णय—देखो संसारी जीवके वर्तमानमें अशुद्धता है। यदि जीवको सदा शुद्ध मान लिया जाय तो फिर किसका संसार ? किसका जन्ममरण ? किसको शुद्ध होना ? काहेके पुण्य-पाप ? संसार ही नहीं तो फिर मोक्ष किसका नाम ? तो जीवको सदा शुद्ध माननेसे संसार मोक्षकी व्यवस्था ही न बन सकेगी। कोई कहे कि मत बनो व्यवस्था, हमें क्या पड़ी ? न संसार रहे, न मोक्ष रहे, उसमें क्या नुक्सान हुआ ? अरे नुक्सान यह हुआ कि दुःखी तो हो रहे हो खूब और उस दुःखको दूर करनेका उपाय न बन सकेगा। तो यह जीव जो यह संसारमें परिभ्रमण कर रहा, जो इतनी रागद्वेषादिक अनेक बाधायें लग रहीं, ये यह सिद्ध करती हैं कि जीव पर्यायमें शुद्ध नहीं है। यदि यह जीव सदा शुद्ध होता तो यह संसार कहाँसे आता और फिर मोक्ष क्या कहलाता ? न भगवान

Version 1

रहते, न भक्त रहते, कुछ भी तत्त्व न रहता। तो यह मानना चाहिए कि यह जीव स्वभावसे सहज शुद्ध है अर्थात् इसका स्वभाव परसे निराला, परभावोंसे निराला, एक चैतन्यज्योतिमात्र है, लेकिन परउपाधिके अनादि सम्बंधसे यह जीव दुःखी होता आ रहा है, जन्ममरण कर रहा है।

स्वस्वरूपे स्थितो ना चेत् संसार स्यात्कुतो नयात्।
हठाद्वा मन्यमानेस्मिन्ननिष्टत्वमहेतुकम् ॥६५६॥

अपनेको यहां स्वरूपस्थ मान लेनेपर अनिष्टप्रसङ्गका विवरण—यदि यह जीव, यह आत्मा अपने स्वरूपमें ही स्थित रहे याने सदाकाल ही बना रहे तो बतलावो संसार किस नय से सिद्ध हो सकेगा ? यदि कोई यहां हठ ही करे कि मैं तो शुद्ध ही हूं तब फिर इसका अर्थ यह हुआ कि बिना किसी कारणके यह जीव शुद्ध है। तो उसमें क्या आपत्ति होगी ? इसको अगले श्लोकमें बताया जायगा। प्रसंगवश इतना समझ लीजिए कि कुछ मनुष्य ऐसे हैं, कुछ अपनेको धर्मात्मा कहने वाले लोग ऐसे हैं कि अपनेको बिल्कुल शुद्ध मानते हैं और आचार-विचारसे विहीन रहकर अपना मौजपूर्वक गुजारा करते हैं, मैं शुद्ध हूं। भूख किसको लगी ? दुःख किसको हुआ ? खाता कौन है ? कुछ भी खावो, कभी खावो, जीव तो शुद्ध है, मैं शुद्ध हूं, जरा ऐसा शुद्ध शुद्ध चिल्लाने वाले लोगोंको थोड़ा एक थप्पड़ मारकर देख लो—अगर ये बेचैन हों तो उनसे कहो कि आप तो शुद्ध हैं, यह नाराजगी कहांसे आयी ? एक गुरु कुछ शिष्योंको पढ़ाता था तो यह ही शुद्ध, वेदान्तकी बात पढ़ाता था—यह ब्रह्म शुद्ध है, और उस गुरुका आचरण क्या था कि उसको रसगुल्ले खानेका बड़ा शोक था। एक मुसलमानकी दूकान के रसगुल्ले उसे बड़े अच्छे लगते थे। उस गुरुके सब शिष्योंमें से जो एक सबसे बुद्धिमान् शिष्य था वह एक दिन कहने लगा कि गुरुजी आप आत्माको, ब्रह्मको शुद्ध कहते हैं तो फिर ये दुःख सुख किसको होते हैं ? तो गुरुने कहा कि ये सुख दुःख तो इस प्रकृतिके होते हैं। शिष्यकी समझमें कुछ बात न बैठी। और फिर पूछा तो, तो गुरुने वही उत्तर दिया। और शिष्यको इस बातमें चिढ़ आयी कि ये एक मांसकी दूकानपर बैठकर रसगुल्ले खाते हैं। एक दिन वह गुरुजी एक मुसलमानको दूकानमें बैठे हुए रसगुल्ले खा रहे थे तो शिष्य वहां पहुंचा और हिम्मत करके गुरुजीके दो तीन तमाचे जड़ दिए। गुरुजी तिलमिला गए और बोले—अरे शिष्य ! तूने मुझे क्यों मारा ?····महाराज आप मांसकी दूकानपर रसगुल्ले क्यों खा रहे ? अरे शिष्य किसने खाया, आत्मा तो शुद्ध है। तब शिष्यने कहा—महाराज मैंने आपको नहीं मारा। जैसे आपने रसगुल्ले नहीं खाये, खाती तो प्रकृति है, ऐसे ही मारा तो प्रकृतिको, कष्ट हो तो प्रकृतिको हो, आप तो एक शुद्ध हैं, तमाचा तो इस चामपर पड़ा है ? आपका इसमें क्या बिगाड़ ?····बस झट गुरुजी की समझमें आ गया और बोले कि ऐ शिष्य ! आज तो तूने

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मेरी आखें खोल दीं। तो भाई किसे शुद्ध कहा जाय? शुद्धकी बात तो स्वभावमें है, जिसके देखे बिना आत्माका उद्धार नहीं हो सकता। यह मैं आत्मा अशुद्ध होकर भी भीतर शुद्ध हूं, पर भीतर किस तरहका शुद्ध हूं, इसको कहनेके लिए पर्याप्त वचन तो नहीं हैं और यों समझिये कि यह जीव जब स्वतंत्र सत् है, केवल अकेला ही है, यह सत् है तो इस अकेले जीवमें इस जीवके ही कारण जो कुछ इसमें बात होती हो, स्वभाव हो वह है शुद्ध याने जीवमें स्वभावमें राग नहीं मिला हुआ है, स्वभावमें केवल ज्ञानज्योति है, उसके दर्शनसे, उसके आलम्बनसे कल्याण होता है, यह बात तो सही है, पर कोई अपनेको पर्यायमें ही, परिणमनमें भी शुद्ध मान ले, स्वच्छन्द रहे, मेरेको क्या फिक्र, मैं शुद्ध हूं, तो वह अंधेरेमें है।

जीवश्चेत्सर्वतः शुद्धो मोक्षादेशो निरर्थकः।
नेष्टमिष्टत्वमत्रापि तदर्थं वा वृथा श्रमः ॥६६०॥

जीवको सर्वथा शुद्ध माननेपर समापतित अनिष्टप्रसंगका दिग्दर्शन—चर्चा यह चल रही थी कि जीवमें विभावशक्ति है और कर्मोदयके निमित्तसे रागद्वेष भाव होनेके कारण विभावकी शक्तिका विकृत परिणमन चल रहा है। इस जीवको सर्वथा शुद्ध मत निरखो, किन्तु व्यवहारतः विकृतपरिणमन है और स्वरूपतः इसमें शुद्ध चैतन्यस्वभाव है। ऐसा न निरखकर जो केवल सर्व प्रकारसे जीवको शुद्ध ही है तो अनिष्टप्रसंग आवेगा। क्या अनिष्ट प्रसंग है? लो जीव तो मान लिया सदा शुद्ध तो फिर मोक्षका निरूपण करना व्यर्थ हो गया, लेकिन यह बात इष्ट नहीं है। मोक्षका निरूपण व्यर्थ नहीं है। मोक्षके लिए जो श्रम किया जाता है वह श्रम व्यर्थ नहीं है, लेकिन जो जीवको सदा शुद्ध माने उसके लिए सब व्यर्थ है, स्वच्छता है। जैसे जलमें समझ लेते ना कि गर्म जल है, तेज गर्म जल है, कितना ही तेज गर्म जल हो, जब कभी पूछा जायगा कि बोलो इस जलका स्वभाव कैसा है? तो गर्म कोई न कहेगा। स्वभाव ठंडा है, और कोई माने कि यह तो ठंडा ही है, हर तरह ठंडा है और पी ले तो जीभ जल जायगी। इसी तरह समझिये कि जीवका जो वर्तमान परिणमन है वह विकृत है, विभावपरिणमन है और वे विभावपरिणमन न माने जावें और माना जावे कि यह तो सदा शुद्ध है तो उस तरह धोखेमें आ जायगा। जैसे गर्म पानीको सर्वथा ठंडा मानकर कोई पी लेता है, जीव स्वभावतः तो शुद्ध है, परन्तु पर्यायमें परिणमनमें यह जीव यहाँ अशुद्ध चल रहा है, विषयोंसे घिरा हुआ है।

सर्वं विप्लवतेप्येवं न प्रमाणं न तत्फलम्।
साधनं साध्यभावश्च न स्याद्वा कारकक्रिया ॥६६१॥

जीवको सर्वथा शुद्ध माननेपर प्रमाण, प्रमाणफल, साधन, साध्य आदिक सभीकी असिद्धि—जीवको सर्वथा शुद्ध मानने वाले दार्शनिकके आगे कौनसी समस्या आती है, कौनसी

Version 1

अनिष्ट आपत्ति आती है, उसका कुछ विवेचन चल रहा है। देखो जीवको सर्वथा शुद्ध मान लिया जाय तब फिर संसार ही न रहा। रागद्वेष किसके ? जीव तो शुद्ध है, शिक्षा किसको देते हो ? क्रोध न होगा। जीव तो शुद्ध है। अगर शरीरको शिक्षा देते हो कि क्रोध न करो। शरीर क्रोध करता है, ऐसा कोई मानकर कहे कि मैं तो शरीरको शिक्षा देता हूं, क्रोध न करो। अरे क्यों शिक्षा देते हो ? क्रोध होता है, होने दो। शरीरमें होता है तो उसको क्या कष्ट होगा ? उसमें तो ज्ञान ही नहीं है, ज्ञान ही नहीं है, वह कैसे दुःखी होगा ? कोई पीट दे, मार दे तो ? अरे पीटने दो, शरीरमें तो ज्ञान ही नहीं है। वह तो दुःखका अनुभव करेगा ही नहीं। किसे शिक्षा देते हो ? जीव यदि सर्वथा शुद्ध मान लिया जाय तो सुनो—संसारकी और मोक्षकी व मोक्षमार्गकी व्यवस्था नहीं बन सकती। और देखो—यह तो कही जा रही है आत्महितसे सम्बंधित बात कि न मोक्ष रहेगा, न मोक्षमार्ग रहेगा। पर उससे पहिले यह ही देख लें कि जब मोक्ष व्यवस्था और मोक्षमार्ग निरर्थक हुए और इतना ही क्या, रागद्वेष संसार, ये सब निरर्थक हुए, क्या करना ? किसका करना, निर्णय क्यों करना ? लोग कहते हैं कि वस्तुका भली-भाँति निर्णय कर लो, क्यों निर्णय कर लो, क्या जरूरत पड़ी ? क्यों विवेक करते ? क्यों निश्चय करते ? जीव तो शुद्ध है, इसमें तो कोई दोष ही नहीं है। ऐसा मानने वालोंके यहाँ तो कुछ भी बात सिद्ध नहीं हो सकती। तब प्रमाणीक कुछ न बनेगा। निर्णय करने वाले ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। लो निर्णयकी जरूरत भी क्या, प्रमाण भी क्या ? न प्रमाण बनेगा, न प्रमाणका फल बनेगा, न साधन बनेगा, न साध्य बनेगा। क्या काम करना, कुछ भी न करना। जीव शुद्ध है, ऐसा जो लोग सोचते हैं वे केवल एक तप संयम व्रतके लिए ही सोचते हैं। क्या करना ? जीव तो शुद्ध है, पर अपने रागद्वेष सुख दुःख इच्छाके लिए नहीं सोचते। वहाँ तो सुभट बन जाते, क्या करना ? जीव तो शुद्ध है। तो जो लोग जीवको सर्वथा शुद्ध मानते हैं उनकी यह साध्यसाधनकी कुछ भी व्यवस्था नहीं, किसे साध्य बनाना, कौनसा काम बनाना, किस साधनसे बनाना ? कुछ भी व्यवस्था नहीं है। कारण कार्य उसके नहीं बन सकता। क्या कारण जुटाना ?

विवेकसे ही शान्तिलाभकी शक्यता—देखो जीव सर्वथा शुद्ध नहीं है, वैभाविकी शक्तिका विकृत परिणमन चल रहा है और उसमें जीव आकुलित ही रहा है। अपनी आकुलताओंको समाप्त करें, ऐसा प्रोग्राम बनायें। एक राजा भोज हुए हैं, उनकी बहुत अधिक प्रसिद्धि है, उन्हें ज्ञानियोंसे बड़ा प्रेम था और स्वयं भी पंडित था। एक रात्रिको एक कविके मनमें आया कि राजाने मुझे बहुत दिनोंसे कुछ इनाम नहीं दिया, हम भूखों मरने लगे, चलो आज राजाके यहाँ ही हमें चोरी करने जाना चाहिए, और किसी गरीबके यहाँ चोरी करनेसे क्या लाभ ? यह सोचकर वह राजा भोजके यहां चोरी करने गया। वह राजा भोजकी खाटके नीचे छिपा

हुआ। रातको राजा भोज अपनी खाटपर लेटा हुआ एक संस्कृतकी रचना कर रहा था। वह रचना यह थी—चेतोहराः युवतयः सुहृदोऽनुकूलाः, सद्बान्धवाः प्रणति गर्भगिरश्च भृत्याः। गर्जन्ति दन्तिनिबहास्तरलास्तुरङ्गाः····। यों छन्दके तीन चरण बन चुके थे। चौथा चरण नहीं बन पा रहा था। उस रचनामें राजा भोज अपने वैभवका वर्णन कर रहे थे—मेरे पास सुन्दर रानियां हैं, इतना बड़ा वैभव है, नम्र आज्ञाकारी बन्धु हैं, ऐसे हाथी हैं, ऐसे घोड़े हैं, हमारे नौकर कितने आज्ञाकारी हैं, हमारे पास कितने सुन्दर महल हैं, कितनी महान सेना है आदि, इस प्रकारका वर्णन करने वाली कविताके तीन चरण बन पाये थे, चौथा चरण नहीं बन पा रहा था। तो उस विद्वान्से न रहा गया, जो कि चोरी करनेके लिए गया हुआ था और राजा के पलंगके नीचे छिपा हुआ था, वह चौथा चरण बोल उठा—'सम्मीलने नयनयोर्न हि किञ्चिदस्ति, जिसका अर्थ यह है कि तुमने अपने सारे वैभवका तो वर्णन किया, स्त्री अच्छी, बन्धु अच्छे, नौकर अच्छे, इतने-इतने हाथी, घोड़े, महल आदि, पर नेत्रोंके मिच जानेपर तेरा कुछ नहीं है। यह चौथे चरणका अर्थ है। राजा बहुत प्रसन्न हुआ और उसे अपना साधर्मी बन्धु समझकर गले लगाया। तो जो ज्ञानके दुश्मन होते हैं वे अक्लके दुश्मन कहे जाते हैं। उस समय राजा भोजने यह न सोचा कि अरे यह तो चोर है। वह तो उस विद्वान्का बड़ा आदर करने लगा। तो यों समझिये कि जो कुछ है वैभव, आँखें मिचनेके बाद आपका क्या है ? जिसमें इसना बड़ा तेज ममत्व रख रहे हैं, मेरा ही तो लड़का है, मेरा ही तो फलाना है, मेरा ही तो वैभव है। अरे तुम्हारे कुछ भी नहीं हैं, वल्कि ये मेरे हैं, ऐसा विचार यह आपके लिए बड़ी हानिकी बात है, क्योंकि अन्तः कर्मबन्धन हो रहा है, आकुलता मच रही है, अंधेरा छाया है, सम्यक्त्व नहीं जग पाता है। संसारसे उद्धार होनेका मार्ग बन्द हुआ पड़ा है। तो जो विपत्ति है उसमें तो मानते हैं मौज और जो सच्चे आरामकी बात है उसमें लग रही है कठिनाई। बड़े कठिन प्रवचन होते हैं, समझमें नहीं आते। तो सारा दोष प्रवक्ताका मानते हैं, सुनने वाले अपना दोष नहीं समझते कि मैं थोड़ी मेहनत करूँ, थोड़ा विद्या पढ़ूं जिससे कि मैं इतना समझ सकूं। यह न बनेगा, क्योंकि वही आदत बनी है मौजकी। अभी सनीमा देखना हो तो उसे बड़े मौजसे देखेंगे, उसमें कोई अधिक दिमागपर जोर तो पड़ेगा नहीं, और तत्त्वकी बातको समझनेके लिए तो कुछ दिमागपर जोर पड़ता है ना, पर उसमें दिमाग नहीं लगाना चाहते। तो जो लोग इस जीवको सर्वथा शुद्ध मानते हैं उनका भी गुजारा नहीं है और जिस जीवके बारेमें कुछ पता नहीं उनका भी गुजारा नहीं।

सिद्धमेतावताप्येवं वैकृता भावसन्ततिः।
अस्ति संसारिजीवानां दुःखमूर्तिर्दुरुत्तरी ॥६६२॥

संसारी जीवोंकी वैकृता भावसंततिके वर्णनका उपसंहार—इस प्रकरणका यह अंतिम

http://sahjanandvarnishastra.org/

श्लोक है, जिसमें सारांश रूपमें यह बताया गया कि संसारी जीवोंके भवोंकी संतति चली आ रही, भावपरम्परा चली आ रही वह विकृत है, दुःखकी मूर्ति है। उसका फल खोटा है। वर्तमानमें जो कुछ अपनेमें दोष लग रहे, विभाव जम रहे, उसपर कुछ खेद तो लावो। नहीं ला सकते तो इस ही के मायने हैं मूर्खता, अबोधता। कुछ पता नहीं, जब बाह्य देखते हैं तब झंझट है, जब भीतर देखते हैं तो बड़ा आनन्द है। दो चीजें, जो कितनी विरुद्ध चीजें हैं, कहां तो आनन्द और कहाँ झंझट ? ऐसी विरुद्ध चीजें भी हमारे तराजूकी डंडीके दोनों ओर पड़ी हुई हैं, दूर नहीं है। दूर झाँका झंझट, भीतर निरखा आनन्द। हम बहुत दूरकी बात नहीं कह रहे। हम आत्मामें ही दूरकी बात कर रहे। शरीरसे दूरकी बात नहीं कह रहे। आत्मप्रदेशमें ही बाहर और भीतरकी बात कर रहे। जब परिणतिमें निरखते हैं तब अपने स्वभावके उपयोगसे हटकर कुछ भी बाहर उन्मुख होता है उपयोग तो वहाँ झंझट आ ही जाता है और जहाँ अपने स्वभावको निरखा, अन्तः वहाँ परम आनन्द बरसता है। तो दोनों बातोंका निर्णय रखो—स्वभाव तो पवित्र है, पर परिणमन मेरा गंदा चल रहा है। इस गंदे परिणमनको मिटाना है और शुद्ध परिणमन लाना है। उसका उपाय है अपने अन्तःप्रकाशमान इस सहज शुद्ध स्वभावका आलम्बन करना।

॥ पञ्चाध्यायी प्रवचन त्रयोदश भाग समाप्त ॥

पूज्य **श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज** द्वारा रचित **"पञ्चाध्यायी प्रवचन"** का यह त्रयोदश भाग समाप्त हुआ।

Report any errors at vikasnd@gmail.com